

## त्रिपक्षीय संघर्ष—

गुप्त साम्राज्य के पतन के बाद जो राजनीतिक विश्रंखलता उत्पन्न हुई उसे कुछ सीमा तक वद्धन साम्राज्य के प्रतापी राजा सकलोत्तरापक्षनाथ हर्ष ने समाप्त करने का प्रयास किया, लेकिन उसकी मृत्यु के बाद सारा उत्तर भारत वर्ष छिन्न-भिन्न हो गया। सर्वाधिक उल्लेखनीय तथ्य यह है कि पिछले एक हजार वर्ष तक जहां गूढ़ राजनीतिक शक्ति का गुरुत्वाकर्षण तथा केन्द्र बिन्दु बना था, अब वही उसका स्थान कन्नौज ने ले लिया। (फर्रूखाबाद) हर्ष के कार्य-काल में कन्नौज की अभूत पूर्व उन्नति हुई थी। फलस्वरूप उसकी मृत्यु के बाद कन्नौज विभिन्न शक्तियों के आकर्षण का केन्द्र बिन्दु बन गया। उत्तरी भारत का चक्रवर्ती शासक बनने के लिए अब कन्नौज पर अधिकार करना आवश्यक समझा जाने लगा। अतः उस पर अधिकार करने के लिए आठवीं शताब्दी की तीन सर्वाधिक शक्ति शानी शक्तियाँ पाल प्रतिघर तथा राष्ट्रकूट के मध्य संघर्ष छिड़ गया। जिसे भारतीय इतिहास में त्रिकोणात्मक संघर्ष के अंततः विजय प्रतिघरों की हुई। यद्यपि इन शक्तियों में राष्ट्रकूट सबसे शक्ति शाली थे। तथापि वे अपने गृह संघर्ष तथा दक्षिण भारत की राजनीति में उलझे रहने के कारण पर्याप्त ध्यान उत्तरी भारत में न दे सकें, जिसका लाभ प्रतिघरों को अवश्य किला-और वे अंत में कन्नौज पर अपना शासन स्थापित करने में सफल रहे।

आठवीं शताब्दी के प्रारम्भ में कन्नौज पर नितांत शक्तिहीन आयुध शासकों का शासन था। इसके विपरीत पाल, तिहार तथा राष्ट्रकूट अत्याधिक शक्तिशाली तथा साधन सम्पन्न थे। अतः इन शक्तियों के सम्मुख नटमस्तक होने के अलावा आयुधों के पास कोई दूसरा विकल्प नहीं था।

इस संघर्ष की विशेषता यह है कि यह लगभग एक शताब्दी तक विचित्र तथा रोचक परिस्थितियों में चलता रहा तथा दूसरी सर्वाधिक उल्लेखनीय विशेषता यह है कि इसमें भाग लेने वाले राष्ट्रकूट दक्षिण भारत की प्रथम शक्ति थी। जिन्होंने सर्वप्रथम उत्तरी भारत की राजनीति में हस्तक्षेप किया तथा उसमें उन्हें अभूतपूर्व सफलता मिली। उन्होंने समकालीन उत्तर भारत की राजनीति में वही भूमिका निभाई जो बाद में 18 वीं शताब्दी में लगभग मराठों ने निभाई थी।

इस त्रिपक्षीय संघर्ष में कन्नौज पर प्रभुत्व स्थापित करने की सर्वाधिक आतुरता गुर्जर प्रतिघरों को थी, क्योंकि उस समय राष्ट्रकूट, जो समकालीन राजनीति में अजेय हो गये थे, प्रतिघरों पर लगातार प्रहार कर रहे थे। अतः प्रातिहार राष्ट्रकूटों के पड़ोस से हटकर कन्नौज के सुरक्षित और समृद्ध क्षेत्र की ओर बढ़ने के लिए व्याकुल थे।

1. इस त्रिपक्षीय संघर्ष की वास्तविक पहल, प्रतिहार नरेश वत्सराज ने किया। उसने कन्नौज के आयुध शासक इन्द्रायुध को पराजित कर अपनी सत्ता स्थापित किया।

वत्सराज की भांति पाल नरेश धर्मपाल भी उत्तरी भारत पर प्रभुत्व स्थापित करने लिए व्याकुल था। फलस्वरूप दो महत्वाकांक्षी शासकों के मध्य संघर्ष आवयभावी था।

परिणाम स्वरूप दोनों के मध्य गंगा-यमुना के दो आव में कही युद्ध हुआ। जिसमें धर्मपाल की पराजय हुई। उसका उल्लेख राष्ट्रकूट शासक गोविन्द तृतीय के राधनुर लेख में हुआ है जिसके अनुसार— “मदान्ध वत्सराज ने गौड़ राज की राजलक्ष्मी को आसानी से हातगत कर लिया।” पृथ्वीराज विजय महाकाव्य से भी इसकी पुष्टि होती है। इस विजय से आयुध शासक इन्द्रायुध वत्सराज की अधीनता स्वीकार करने लगा। इसी समय राष्ट्रकूट नरेश ध्रुव ने विन्ध्यपर्वत वार कर वत्सराज पर आक्रमण कर दिया। पराजित वत्सराज रापूताना के रेगिस्तान की ओर भाग खड़ा हुआ। राधनपुर लेख में कहा गया है कि—“उसने वत्सराज के यश के साथ ही उन दोनों राजदूत्रों को भी छीन लिया जिसे उसने गौड़ नरेश से छीना था। पुनः ध्रुव ने पूर्व की ओर बढ़कर संजन तथा सूरत के लेखों से होती है।”

संजन तथा सूरत के अनुसार—“उसने गंगा यमुना के बीच भागते हुए गौड़ राज की लक्ष्मी के लीकार बिन्दो और श्वेतछत्रो को छीन लिया।”

परन्तु इन विजयों के पश्चात ध्रुव दक्षिण भारत और गया जिसे पुनः जानों तथा प्रतिहारों को सिर उठानो का मौका मिल गया।

2. राष्ट्रकूटों द्वारा उत्तर भारत की समकालीन राजनीति में व्यस्त क्षेत्र का तात्कालिक लाभ धर्मपाल ने उठाया। इधर पराजित प्रतिहारों की उत्तरी भारत पर पुभुसत्ता स्थापित करने की महत्वाकांक्षा कुछ समय के लिए कुछन पड़ चुकी थी। परिणामरूप ध्रुव के उत्तरी भारत से अओझल होते ही धर्मपाल ने कन्नौज पर अधिकार कर लिया। भागलपुर लेख से ज्ञात होता है कि “धर्मपाल ने कन्नौज आक्रमण करके इन्द्रमुध को राजसिंहासन से अपदस्य करके चक्रायुध को सिंहासनारूढ़ किया।”

इस लेख में कहा गया है कि—“धर्मपाल ने इन्द्रराज और दूसरे शत्रुओं को परास्त कर कन्नौज नगर पर अधिकार कर लिया किन्तु उसे चक्रायुध को उसी प्रकार वापस दे दिया। जिस प्रकार वलि ने इन्द्र आदि शत्रुओं को जीतकर भी ब्रामनरूप धारी विष्णु को तीनों लेक प्रदान किया था।

प्रतिहार उस स्थिति को सहन नहीं कर पाये। परिणामस्वरूप वत्सराज का पुत्र व उत्तराधिकारी नागभट्ट द्वितीय ने चक्रायुद्ध को पराजित कर कन्नौज पर अधिकार कर लिया। लेकिन इतने से उसे संतोष प्राप्त न हुआ। ग्वालियर लेख से ज्ञात होता है कि— मुंगेर के निकट लड़े गये युद्ध में नागभट्ट ने धर्मपाल को बुरी तरह से पराजित किया। उस लेख के अनुसार—“बंगनरेश अपने गजाँ अश्वों तथा रथो के साथ घने बादलों के अंधकार की भांति आगे बढ़कर उपस्थित हुआ, किन्तु त्रिलोको को प्रसन्न करने वाले नागभट्ट ने उदीयमान सूर्य की भांति उस अंधकार को काट डाला।”

भयभीत पालनरेश ने राष्ट्रकूट नरेश गोविन्द तृतीय से सहायता मांगी। संजन ताम्रपत्र से पता चलता है कि उसने नागभट्ट को पराजित किया तथा मालवा पर अधिकार कर लिया। धर्मपाल तथा चक्रायुद्ध ने स्वतः उसकी अधीनता स्वीकार कर लिया। गोविन्द आगे बढ़ता हुआ हिमालय तक गया, लेकिन वह भी अधिक दिन तक न टिक सका।

**अनुमानतः** यह युद्ध 809 –810 AD के आसपास लड़ा गया था।

(3) गोविन्द तृतीय के लौटते ही वालो तथा प्रतीहारों में पुनः युद्ध छिड़ गया। इस समय प्रतिहार शासक रामभद्र एक निर्बल तथा अयोग्य शासक था। जबकि पाल शासक देवपाल एक महत्वाकांक्षी तथा शक्तिशाली शासक था। देवपाल के मुंगेर लेख से पता चलता है कि रामभद्र देवपाल का सामना करने में असमर्थ रहा तथा बुरी तरह से पराजित हुआ।

(4) देवपाल की मृत्यु के बाद विग्रहपाल तथा नारायण वाल जैसे निर्बल शासकों के काल में पालों की शक्ति निर्बल पड़ गयी। इसी समय प्रतिहारों की बागडोर एक अत्यंत पराक्रमी शासक मिहिरभोज प्रथम के हाथों में आ गयी। शुरू में पाल तथा राष्ट्रकूट शासक कृष्ण द्वितीय द्वारा पराजित किया गये। लेकिन भोज ने शीघ्र ही अपनी शक्ति संक्षिप्त करके देवपाल के उत्तराधिकारियों तथा कृष्णा द्वितीय दोनों को हटाकर, कन्नौज को अपनी राजधानी बनाया।

(5) भोज प्रथम के बाद उसका पुत्र महेन्द्रपाल प्रथम शासक हुआ। विहार तथा उत्तरी बंगाल के कई स्थानों से उसके लेख मिलते हैं। जिनमें उसे—श्वर महाराजाधिराज महेन्द्रपाल कहा गया है। इससे स्पष्ट होता है कि मगध तथा उत्तरी बंगाल के प्रदेश भी पालों से गुर्जर प्रतिहारों ने जीत लिया था। उस प्रकार त्रिपक्षीय संघर्ष की समाप्ति हुई। स्पष्ट है कि उस संघर्ष में अंततः गत्वा प्रतिहारों को ही सफलता प्राप्त हुई तथा कन्नौज के उपर उनका अधिपत्य स्थापित हो गया। देवपाल की मृत्यु के बाद पाल उत्तरी भारत की राजनीति से अधिक हो गये। प्रतिहारों के बाद कन्नौज पर गहड़वाल वंश के शासकों का राज्य स्थापित हुआ। 1193 में चन्द्रावर के युद्ध में गहड़वाल शासक, जयचन्द्र, मुहम्मद गोरी तथा कुतुबुद्दीन के संयुक्त आक्रमण द्वारा पराजित किया गया। इल्तुतमिश ने पूर्णतः दिल्ली सल्तनत में कन्नौज को मिला लिया।

---

## सामंतवादी व्यवस्था— व कृषि भू राजस्व व्यवस्था

पूर्व मध्य कालीन समाज में एक विशिष्ट वर्ग और एक नयी शासन व्यवस्था का उदय हुआ जिसे सामंतवाद कहा जाता है। उस नयी व्यवस्था अथवा समाज में मुख्य स्थान उन सरदारों का था, जो अपनी सेनाओं की सहायता से भूमि के बड़े हिस्से पर अपना अधिकार रखते थे तथा प्रशासन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते थे तथा समय-समय पर राजा की सैनिक सहायता करते थे। इसका एक तरीका यह था कि राजा उनके द्वारा अधिकार में ली गयी भूमि को मान्यता देता था और सेवा के वचन की मांग करता था। पुनः सामंत इसी प्रकार अपने से छोटे सरदारों को भूमि के एक हिस्से पर अधिकार देते थे और उनसे अपने पगति निष्ठा तथा सेवा करने की वचन लेता था। उत्पत्ति तथा विकास तथा स्वरूप— यद्यपि भारत में हमें सामंतवाद का अंकुरण शक-कुशाण काल में ही दिखाई देने लगता है तथापि इसका पूर्ण विकास पूर्व मध्यकाल में ही हुआ। ठीक इसी समय यूरोप में भी सामंतवाद का उदय हुआ। जिससे भारतीय सामंतवाद काफी साम्य रखता है।

डा० R.S. Sharma – जिन्होंने सामंतवाद के उदय तथा विकास का गहन अध्ययन किया है कि मान्यता है कि "भारत में सामंतवाद का उदय राजाओं द्वारा ब्राह्मणों तथा प्रशासनिक और सैनिक अधिकारियों को भूमि तथा ग्राम दान में दिये जाने के कारण हुआ। पहले ये अनुदान मात्र ब्राह्मणों को ही धार्मिक कार्यों के लिए दिये जाते थे, किन्तु हर्ष काल तथा उसके बाद से इन्हें प्रशासनिक और सैनिक अधिकारियों को उनकी सेवाओं के बदले दिया जाने लगा।" गुप्त काल में राजधिकारियों को वेतन दिया जाता था, परन्तु कुद विद्वानों का विचार था कि वेतन के बदले भूमि दान की प्रथा भी चल पड़ी थी। इस भूमि से जो उत्पादन होता था। वही अधिकारी का वेतन होता था। भूमिदान का सबसे प्राचीन अभिलेखीय प्रमाण पहली शती के एक सातवाहन अभिलेख में मिलता है जिसमें अश्वमेघ यज्ञ में एक गांव दान करने की चर्चा की गयी है।

भूमिदान से दो चीजें जुड़ी थी (1) एक तो राजस्व के समस्त साधनों को ग्रहीता के नाम हस्तांतरित कर दिया जाता था और (2) दूसरे ग्रहीता को उस भूमिखंड की आंतरिक सुरक्षा और प्रशासनिक उत्तरदायित्व निभाना पड़ता था। अतः निष्कर्षतः इन दोनों अधिकारों से सम्पन्न व्यक्ति को सामंत कहा जा सकता है।

इस प्रकार R.S. Sharma भूमि अनुदानों को सामंतवाद के उदय का प्रमुख कारण मानते हैं। इसी प्रकार का विचार डा० B.N. यादव का भी है— जिनके अनुसार— "सामंतवाद का उदय प्रशासनिक भूमि अनुदानों के फलस्वरूप संभव हुआ और यह स्पष्टतः उत्तर गुप्त कालीन प्रथा थी।"

रोमिला थापर ने गुप्त काल तथा हर्ष के बाद हुए राजनीतिक विकेन्द्रीकरण तथा प्रादेशिक राज्यों के उदय को ही सामंतवाद की संज्ञा दिया है। जिसका मुख्य कारण एक नये आर्थिक व राजनीतिक ङांचे का विकास था।

पुनः इनका मत है कि— सातवीं शताब्दी से नकद वेतन के स्थान पर दिये जाने वाले भूमि अनुदान ने सामंती प्रक्रिया को बन प्रदान किया।

भूमि अनुदानों के अतिरिक्त इस काल की राजनैतिक आर्थिक तथा सामाजिक परिस्थितियों ने सामंतवाद के विकास के लिए उपयुक्त आधार प्रदान किया।

(1) बाह्य आक्रमणों के कारण केन्द्रीय सत्त निर्बल पड़ गयी चारों ओर राजनीतिक अराजकता एवं अव्यवस्था फैल गयी । केन्द्रीय शक्ति की निर्बलता ने समाज में प्रभावशाली व्यक्तियों का एक ऐसा वर्ग तैयार किया। जिन के उपर स्थानीय सुरक्षा का भार आ पड़ा। अरब तथा तर्कों के आक्रमणों ने शक्तिशाली राजवंशों को धराशायी कर दिया। फलस्वरूप उत्तर भारत में अनेक छोटे-छोटे राज्यों का उदय हुआ। उससे सामंती पद्धति को बढ़ावा मिला। इस विचार से डा० रोमिला थापर जी भी सहमत है। (2) दूसरे पूर्वमध्यता में अधिकांश राजाओं का उद्देश्य अधिक से अधिक अधीन शासक तैयार कर उनसे कुरादि वटोरना हो गया। उस प्रवृत्ति ने भी सामंतवाद को प्रोत्साहित किया।

(3) सामंतवाद को विकसित करने में आर्थिक कारक भी सहायक सिद्ध हुए हैं। प्रो० B.N.S. यादव के शब्दों में— शक कुषाण युग में प्रथमबार हमें सामंतवाद के न केवल रानीतिक अपितु सामाजिक व आर्थिक कारक भी स्पष्टतः देखने को मिलते हैं। रानीतिक अव्यवस्था व विश्रंखलता के कारण वाणिज्य तथा व्यापार का पतन हुआ। जिससे अर्थव्यवस्था मुख्यतः भूमि और कृषि पर निर्भर हो गयी। बड़े-बड़े भू-स्वामी आर्थिक स्रोतों के केन्द्र बन गये। उससे समाज में भू-सम्पन्न कूलीन वर्ग का जन्म हुआ। समाज के बहुसंख्यक शुद्र तथा भ्रमिक जीविका के लिए उनकी तरफ उन्मुख हुए। भूपतियों को अपने खेतों पर काम करने के लिए बड़ी संख्या में मजदूरी की आवश्यकता पड़ती थी। उस प्रकार आर्थिक परिवर्तन की इस प्रक्रिया ने सामंतवाद के विकास की इस प्रक्रिया ने सामंतवाद के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका अदा किया है।

स्वरूप— राजपूत राज्यों की विभिन्न जागीरों के स्वामी सामंत होते थे। सामंत अपनी सेवाओं के बदले प्राप्त भूमि खंड के सर्वेसर्वा होते थे। उन्हें विशेष अधिकार तथा सुविधाये प्राप्त थी। सामंतों का मुख्यतः दो कार्य था। प्रथम जागीरी क्षेत्र में शांति व व्यवस्था बनाये रखना तथा राजस्व वसूल करना। दूसरा समय-समय पर राजा द्वारा मांगे जाने पर सैनिक सहायता उपलब्ध कराना तथा राजा के प्रति श्रद्धा, भक्ति, निष्ठा तथा अधीनता प्रगट करना। सामंत से यह आशा की जाती थी वह वसूले गये राजस्व का एक भाग को राजा को भेज दे तथा दूसरे भाग से एक सामंती सेना रखे जिसे राजा के प्रति ली हुई निष्ठा की शपथ के अनुसार राजा की सहायता में भेजे। शपथ भंग करना घृणास्पद कार्य समझा जाता था। सामंत को अपनी पुत्री का विवाह राजा से करने के लिए भी बाह्य किया जा सकता था। उसे अपने राजा की मुद्रा का उपयोग करना पड़ता था और जिन स्माट को शिलालेखों आदि का वह निर्माण कराता था। उनमें वह कर्त्तव्य वश अपने राजा के नाम का उल्लेख करता था।

अपने देयो का एक निश्चित भाग राजा को नियमित रूप से देने और राजा के लिए एक निश्चित संख्या में सैनिकों को रखने के अतिरिक्त सामंतों को अन्य दूसरे दायित्वों को भी पूरा करना पड़ता था। उसे दरबार में कुछ निश्चित अवसरों पर—जैसे— राजा के जन्मदिवस आदि के अवसर था किसी यज्ञ या समारोह के अवसर आदि उपस्थित होना पड़ता था। उसके बदले में सामंतों को उपाधि तथा सामंती महत्व के विभिन्न प्रतीकों— जैसे सिंहासन पताका, विशेषरूप से निर्मित पालकी राजकीय जूनूसों में हाथी की सवारी तथा पांच विशेष प्रकार के बाधों से उनकी सूचना देने आदि के प्रयोग की अनुमति दी जाती थी।

सामंतों की हैसियत के अनुसार उनकी उपाधियों में भी अंतर होता था। अधिक शक्तिशाली सामंत—महासामंत, महाभंड लेखर आदि उपाधियां ग्रहण करते थे। जबकि छोटे सामंत— राजा सामंत, राणका, ठाकुर, भोक्ता आदि उपाधियां ग्रहण करते थे।

पूर्व मध्यकाल में विभिन्न राज्यों के आपस में युद्ध रत रहने से सामंतों का सैनिक रूप शक्तिशाली तथा महत्वपूर्ण होता गया। जबभी राजा युद्ध की घोषणा करता था तो यह आश की जाती थी कि—सामंत अपनी इच्छा में राजा अपने स्वामित्व की पूर्ण करने तथा इन सामंती सैनिकों का निरीक्षण करने के लिए समय समय पर सामंती सैनिकों की परेड आयोजित करता था। उस प्रकार सामंत का राजा से सम्बन्ध घनिष्ठ परन्तु अधीनस्थ का था।

सामंत अपने—अपने अधिकार क्षेत्रों में राजाओं जैसी सुख सुविधाओं का उपभोग करते थे। जो भूमि सामंतों को उनकी सेवाओं के बदले अनुदान में दी जाती थी उससे सम्बंधित समस्त अधिकार सामंतों को सौंप दिये जाते थे। सैद्धांतिक दृष्टि से सामंतों को मात्र भूमि का राजस्व ही दिया जाता था, भूमि नहीं और यदि वह अनुदान की शर्तों का पालन नहीं करता था। तो राजा उसकी भूमि को जब्त कर सकता था, परन्तु व्यवहारिक रूप में सामंत इसे अपनी पैतृक सम्पत्ति मान बैठे और इसका उपयोग निर्बल राजाओं के माल में पीढ़ी दर पीढ़ी करने लगे। उसके अतिरिक्त राजा की अनुमति के बिना ही उन्होंने अपने अधीनस्थों समर्थकों तथा उपसामंतों के बीच अनुदान में प्राप्त अपनी भूमि को बांट देने का अधिकार भी स्वयं अपने हाथ में ले लिया।

यादि रोमिला थापर जी पर विश्वास किया जाय तो— कुछ शक्तिशाली सामंतों को बिना राजा की अनुमति के ही भूमि अनुदान में देने का अधिकार था।

इस प्रकार सामंतों की कई श्रेणियां होती थी। एक सामंत के कई अधीनस्थ उपसामंत होते थे। इससे एक पूरी सामंत परम्परा निर्मित हो गयी थी।

उत्तर भारत में भूमि के साथ ही साथ कृषकों तथा बटाईदारों को भी हस्तांतरित कर दिया जाता था और उन्हें स्पष्ट निर्देश दिया गया था कि वे भूमि को छोड़कर किसी अन्य स्थान पर न जायं।

राजपूत काल में सामंतों के छोटे—छोटे राज्य स्थापित हो गये, जो अपनी शक्ति तथा प्रभाव बढ़ाने के लिए परस्पर संघर्ष में उलझ गये। सामंतों को उच्च राजकीय पदों पर नियुक्त किया जाता था अब अधिकाधिक सामंत रखना राजा के लिए गौरव व प्रतिष्ठा का विषय माना जाने लगा।

समीक्षा

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि पूर्वमध्य काल में सामंतवाद के विकास व उत्पत्ति का मुख्य कारण, राजनीतिक विकेन्द्रीकरण, भूमिअनुदान का प्रचलन, बाह्य आक्रमण, अवरूद्ध आर्थिक व सामाजिक व्यवस्था थी। सामंतों के सैलिक व राजस्व सम्बन्धी मुख्य कार्य होते थे। ये सामंत अपने अधीन भी कई उपसामंत रखते थे तथा समाज में वैशिशव विलासिता के प्रतीक थे।

भारत में यदि सामंतवाद की समीक्षत्मक विवेचन किया जाय तो इसके लाभ कम दोष ज्यादा दिखाई पड़ते हैं।

प्रशासकीय दृष्टिकोण से सामंती पद्धति का एक लाभ यह था कि उसके होने से केन्द्र प्रशासित नौकरशाही की आवश्यकता नहीं रह जाती थी। दूसरे जागीरी क्षेत्र में राजस्व वसूलने तथा वहां शांति व्यवस्था बनाये रखने की जिम्मेदारी से भी राजा बच जाता था। तीसरी उसे आवश्यकता पड़ने पर सैनिक सहायता भी उपलब्ध हो जाती थी।

सामंतवादी व्यवस्था के दोषों में प्रमुख दोष निम्नवत् हैं।

1. प्रथम इससे राजा की शक्ति निर्बल पड़ने लगी। वह पूर्णतः सामंतों पर निर्भर रहने लगा, दूसरे जनता के सम्पर्क से भी राजा को वंचित होना पड़ा। क्योंकि सामंत ही जनता के प्रति जिम्मेदार होते थे नकि राजा।
2. उस सामंती ढांचे में विविध स्तरों पर उपसामंतों की वृद्धि के कारण भूमि से प्राप्त होने वाली आय अनेक छोटे-छोटे टुकड़ों में बिखर जाती थी। इससे दोनों छोरों पर स्थित व्यक्तियों, कृषक व राजा की स्थिति दुब्रल हो जाती थी और बिचौलियों (सामंत) के हाथों में आय चली जाने से उन्हें क्षति उठानी पड़ती थी।
3. बिचौलियों की संख्या में वृद्धि होने से कृषकों को भूमिकर के अतिरिक्त अनेक कर भी देने पड़ते थे। इससे पूर्व राजस्व का एक भाग सड़को, सिंचाई तथा अन्य सार्वजनिक कार्यों के रख-रखाव व निर्माण पर खर्च होता, लेकिन सामंतों प्रथा में— भूमिकर के अतिरिक्त ऐसे कार्यों के लिए, अन्य भी सामंत द्वारा लगाये जाते थे। इन अतिरिक्त तथा बेगार की प्रथा से सामंतों की स्थिति तो मजबूत होती गयी, लेकिन कृषक दिन-प्रतिदिन दरिद्र होते गये।
4. सामंतों ने अतिरिक्त धन का उपयोग उत्पादन व व्यवसायिक कार्यों में नक कर अपनी विलासिता तथा वैभव के कार्यों में करते थे। उनकी देखा-देखी समाज का अन्य सम्पन्न वर्ग भी उनको अनुकरण करता था। जिससे विलासिता को बढ़ावा मिला तथा श्रम से लोग दूर हटते गये।
5. अतिरिक्त उपज से कृषकों को अब कोई लाभ नहीं मिलने वाला था, क्योंकि इससे जमींदार अधिक भाग की मांग करते थे। इससे त्रस्त होकर कृषकों ने जीवन निर्वाह के लिए ही उत्पादन करना शुरू किया। दूसरे सामंतों ने उत्पादन बढ़ाने के लिए कोई प्रयास नहीं किया। उन समवेत कारणों से अर्थव्यवस्था को क्षतिग्रस्त हो गयी।
6. जमींदारों को प्राप्त सुविधाओं और अधिकारों के कारण प्रशासकीय मामलों में ग्राम की स्वायत्ता में सबभवतः बाधा उत्पन्न होती थी।

सामंती पद्धति ने परम्परागत चातुर्वर्ण व्यवस्था को भी प्रभावित किया। कार्लवार्न का विचार है कि—“सामंत वाद के विकास से जाति व्यवस्था के बंधन शिथिल पड़ गये तथा समाज के उच्च तथा निम्न वर्गों का अंतर क्रमशः समाप्त होने लगा। क्योंकि सामंत किसी भी व्यक्ति के हो सकते थे। कार्लवार्न का यह मत आंशिक रूप से ही सत्य है।”

वस्तु स्थिति यह है कि सामंत वादी प्रवृत्तियों के विकास के साथ-साथ भूसम्पत्ति, सामारिक गुणः राजाधिकार आदि समाजिक स्थित व प्रतिष्ठा के प्रमुख आधार बन गये। यहाँ तक ब्राह्मण वर्ग भी इनकी ओर आकर्षित हुआ। जिससे समाज के दो प्रथम वर्ग (ब्राह्मण, क्षत्रिय) एक दूसरे के निकट आ गये।

इसी प्रकार अंतिम दो वर्ग वैश्यो तथा शुद्रो में भी निकटता आयी। इस प्रकार पू० म० समाज दो भागों में विभाजित हो गया।”

---



## पल्लव संस्कृति

सातवी शताब्दी के आरम्भ में उत्तरी भारत में गुप्तों तथा उनके तात्कालिक उत्तराधिकारियों के हाथ से सत्त निकल जाने पर, दक्षिण की ओर पश्चिमी दकन तथा उससे भी आगे तमिलनाडू के तीन राज्यों कांची के पल्लव, वादामी के चालुक्य, मदुरा के पान्ड्य का उदय हुआ। इनमें कांची के पल्लवों ने न केवल रानीतिक क्षेत्र में ही विशेष ख्याति अर्जित किया बल्कि सांस्कृतिक क्षेत्र के हर पक्ष प्रशासन, धर्म, साहित्य शिक्षा समाज, कला आदि के क्षेत्रों में विशेष योगदान किया। रोमिला थापर का मत तर्कसंगत लगता है कि—“इस काल की सर्वाधिक महत्वपूर्ण घटनाये विन्ध्याचल के दक्षिण में और ऐसे कार्य क्षेत्रों में हुई जो विशुद्ध राजनीतिक नहीं थे। तत्कालीन पुमुख संस्कृतिक तनावों में समन्वय—अर्थात् आर्य पद्धति का द्रविड़ संस्कृति से आत्मसाती करण का सम्पन्न होना इसकी प्रमुख विशेषता थी। दक्षिण भारत की सांस्कृतिक संस्थायें अब अधिक दृढ़ता पूर्णक स्थापित हो चुकी थी और उनमें भी आगे सातत्य बना रहा।”

पुनः इनका कथन है कि—“दक्षिण भारत में आर्य संस्थाओं को आत्मसात करने की जो मन्द प्रक्रिया चली आ रही थी उसका उत्कर्ष पल्लव काल में हुआ।” चूँकि आर्य विचारों का अधिक आत्मसातीकरण समाज के उच्च वर्गों में किया गया था और बाकी समाज में यह एक प्रतिक्रिया मात्र थी। जिसमें देश की सांस्कृति भी अपने आप को व्यक्त करने का प्रयत्न कर रही थी। इसलिए देशज सांस्कृति के उस रूप का जन्म भी पल्लव काल में ही हुआ जिसे मोटे तौर पर तमिल व्यक्तित्व कहा जाता है, जिसने आगे चलकर भारतीय सभ्यता के विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया। आत्मसाती करण की यह प्रक्रिया प्राप्त शिलालेखों से स्पष्ट हो जाता है। पल्लवों को प्रारम्भिक शिलालेख पाकृत में ही उसके बाद संस्कृति में मिलते हैं और अंत में संस्कृति तथा तमिल दोनों भाषाओं में मिलते हैं।

इस प्रकार आर्य व देशज विचारधारा का समन्वय देशज तमिल संस्कृति की उत्पत्ति, हिन्दू धर्म (शैव, वैष्णव) का उत्थान, बौद्ध धर्म तथा जैन धर्म का पतन भक्ति धारा की उत्पत्ति, ब्राह्मणों को भूमिदान तथा उनको विशेषाधिकार, वास्तुकला की द्रविड़ शैली की उत्पत्ति, विदेशों उपनिवेश तथा संस्कृति का प्रसार आदि। पन्नव संस्कृति के महत्वपूर्ण तत्व थे, जिन्होंने सम्पूर्ण भारतीय संस्कृति के विकास व परिवर्द्धन में अविस्मरणीय व अभूत पूर्व योगदान किया है।

(1) प्रशासनः— पल्लव समाज में राजत्व को ईश्वरीय और वंशानुगत माना जाता था और वे अपनी उत्पत्ति ब्रह्म से मानते थे। शासन का सर्वोच्च पदाधिकारी राजा स्वयं होता था। वत्स नरेश ब्राह्मण धर्मानुयायी होने के कारण धर्ममहाराज तथा धर्म महाराज धिराज जैसी उपाधियां धारण करते थे। पल्लव सम्राटों के पास अपनी मंत्रियापरिषद होती थी। पल्लव लेखों में शासन के कुछ पुमुख अधिकारियों के नाम इस प्रकार हैं— ग्रामभेजक, अमात्य, आरक्षधिकृत, गौत्मिक, भट्टमनुष्य, रंचास्तक।

विशाल पल्लव सम्राज्य राष्ट्र (वामंडल) वलनाडू, नाडू, कोट्टम तथा कुरुरम में विभाजित था। दक्षिण भारतीय प्रशासन की प्रमुख तत्व, ग्राम सभा या समिति होती थी, जिसे पूर्णतयः स्वायत्त प्राप्त थी। ग्राम सभा की बैठक एक विशाल वृक्ष के नीचे होती थी। इस स्थान को मनरम् कहा जाता था।

पल्लवों के पास एक विशाल सेना के साथ-साथ एक जहाजी बेड़ी भी था, जिससे पल्लवों ने अनेक बार सिंहालपर आक्रमण किया था तथा सुमात्रा में अपने अपनिवेश को बसाया था।

पल्लव राजाओं ने अश्वमेघ वाजपेय तथा मग्नितोम जैसे वैदिक यज्ञों का सम्पादन करते थे, जिससे न केवल उनके राजत्व को वैधता मिली, बल्कि पुरोहित वर्ग की आय तथा प्रतिष्ठा में भी वृद्धि हुई।

राजा भूमि का स्वामी होता था जो अपने अधिकारियों का राजस्व का अनुदान और ब्राह्मणों का भूमि का अनुदान दे सकता था अथवा मामूली किसानों और जमींदारों से खेती का कार्य कराया करता था। अधिकारियों को भूमि का अनुदान बहुधा वेतन के बदले में मिलता था और उन्हें राज्य के लिए सेना अथवा राजस्व की व्यवस्था नहीं करनी पड़ती थी जैसा कि एक सम्पूर्ण सामंती व्यवस्था में होता था।

धर्म :- पल्लव सम्राट उत्साही वैदिक धर्म के समर्थक थे। उस काल में शैव व वैराजव धर्म की अभूत पूर्व उन्नति हुई। जबकि बौद्ध तथा जैन धर्मों को सरकारी संरक्षण न जाने तथा जनता के बीच अशोक प्रिय हो जाने के कारण धीरे-धीरे अस्तित्व समाप्त से भी इसकी पुष्टि होती है। शास्त्रार्थों में दोनों धर्मों (जैन बौद्ध) के आचार्य अलवार व नयनार संतो से बुरी तरह से पराजित हो रहे थे।

नीलकंठ शास्त्री का विचार है कि— इन धर्मों के आचार्य के पराजित होने के कारण लोगों का उन धर्मों से विश्वास हट गया और लोग हिन्दू धर्म अपनाने लगे। दूसरे शेष नयनारो तथा वैष्णव अलवारो ने अपने धर्म प्रचार कार्य में गीतो भजनो आदि का प्रयोग किया जिससे यह जन सामान्य में अधिक लोक प्रिय हो गया।

इन धर्मों के पतन का एक मुख्य कारण राकीय संरक्षण का अभाव था। महेन्द्र प्रथम इसका ज्वलंत प्रमाण है— पल्लवयूगीन समाज में शैव एवं वैष्णव के पुर्नजागरण व विकास तथा जैन बौद्ध धर्म को मटियामेट करने में शंकराचार्य तथा कुमारिल भट्ट ने क्रांतिकारी भूमिका निभाई है।

महेन्द्र वर्मन अपने ग्रंथ मत्र विलासप्रहसन में बौद्ध धर्म में प्रचलित तंत्रवाद और चमत्कारवाद का जमकर मजाक उड़ाया है।

पल्लवनरेशी ने हिन्दू धर्म के अनुसरण एवं शिव व वैष्णव धर्म की आराधना हेतु तथा अपने आराध्य देव की प्रतिमाओं की स्थापित करने के लिए भव्य व विशाल मंदिरों का निर्माण करवाया। दोनों सम्प्रदाओं—(शैव, वैष्णव) के प्रमुख आचार्यों का आविर्भाव भी इसी काल में हुआ। शैव आचार्य अप्पर ने शैव धर्म का तथा तिरुमंगई ने पल्लव राज्य में वैष्णव धर्म का प्रचार किया।

इतना सब होने के बावजूद में पल्लव नरेश पूर्णतयः धर्म सहिष्णु थे। उन्होंने बौद्ध तथा जैन धर्म के उपर किसी प्रकार का अत्याचार नहीं किया। ध्वेनसांग जो

नहसिंह वर्मा के समय में कांची में ठहरा था, लिखता है कि उस समय कांची में लगभग 100 विहार थे जिसमें लगभग 10000 बौद्ध निवास करते थे तथा उन्हें राज्य की और से सारी सुविधायें प्रदान की गयी थी।

डा० रोमिला थापर जी की धारणा तर्क संगत प्रतीत होती है कि "दक्षिण में उत्तरी संस्कृति के प्रवेश से वहाँ उत्तर के कुछ आदर्श विचार तथा संस्थाये आत्मसात कर ली गयी, जबकि अन्य अस्वीकृत या संशोधित हो गयी। इनमें से कुछ ने उत्प्रेरक का काम किया, जिससे दक्षिण व उत्तर भारतीय दोनों जीवन पद्धतियों में लये रूपो का प्रादूर्भाव हुआ। उत्तर और दक्षिण के उस मिलाप का परिणाम ही तमिल भक्ति सम्प्रदाय था।"

(3) समाज में ब्राह्मण धर्म की प्रतिष्ठा के कारण ब्राह्मण तथा भक्ति सम्प्रदाय, मूर्तिपूजा अवतारवाद यज्ञ तथा अन्य कर्मकाण्ड के कारण ब्राह्मण वर्ग अति विशिष्ट प्रतिष्ठा व सम्मान प्राप्त हुआ और वे वैदिक परम्परा के संरक्षक के रूप में सामने आये। वैदिक पद्धति अपनाने ने राजा को भी उच्चतर सम्मान प्राप्त हो गया। ब्राह्मणो को उनके पारितोसिक स्वरूप व्यापक पैमाने पर कर मुक्त भूमि प्रदान की जाने लगी।

इन सबका एक उल्लेखनीय प्रभाव यह हुआ कि— उससे एक ऐसा आंदोलन प्रारम्भ हुआ जो वैदिक धर्म को उसकी स्पष्टताओ और असंगतियों से लिकाल कर उसे स्पष्ट तथ्ज्ञा सर्व साधारण के लिए स्तीमार्य बना दिया इसका सूत्रपात उच्चकाटिके ब्राह्मण शंकराचार्य ने किया।

समाज में राजा तथा पूरोहितो के बाद किसानों का स्थान आता था। यदि किसान तथा शिल्पी लोग उत्पादन कर्म में सेवा कर्म में या दायित्व चूकाने में लापरवाही करते थे तो उसे धर्म अर्थात परम्परागत सामान्य नियम से विचलन माना जाता था। ऐसी ही स्थिति को कलियुग कहा गया है।

(4) शिक्षा व साहित्य— पल्लव नरेशों का शासन काल संस्कृत तथा तमिल दोनों ही भाषाओं के साहित्य की उन्नति का काल रहा है। कुछ पल्लव नरेश उच्च कोटि के विद्वान थे तथा उनकी राज सभा में प्रसिद्ध विद्वान एवं लेखक निवास करते थे।

पल्लव राज्य में शैक्षणिक संस्थाओं के विकास में आर्यत्वीमल दृष्टि गोचर होता था। इस काल के प्रारम्भिक भाग में शिक्षा के क्षेत्र पर जैनो और बौद्धो का नियंत्रण था, किन्तु शनैः—शनैः ब्राह्मणों ने उन्हें नि० प्रभाव कर दिया।

विहार आज भी बौद्ध शिक्षा प्रणाली के आधार बिन्दु थे। बौद्ध शिक्षा केन्द्र स्वयं बौद्ध दर्शन के अध्ययन में विशेष रूप से व्यस्त रहे। क्योंकि यह बौद्ध तथा हिन्दुमतो के तीव्र विवाद का युग था।

हिन्दू घटिकाये (महाविद्यालय) साधारणतः मंदिरों से सम्बद्ध होती थी। प्रारम्भ में कोई भी द्विज इन घटिकाओं में प्रवेश पा सकता था। परन्तु धीरे—धीरे ये केवल ब्राह्मण संस्थाये बन गयी और फलस्वरूप इनका क्षेत्र उच्च शिक्षा तक सीमित हो गया। कांची विश्व विद्यालय को नालंदा के समान ख्याति प्राप्त थी। इसके अलावा कांची में अनेक संस्कृत विद्यालया भी थे। आठवी शताब्दी में मठ भी काफी लोकप्रिय हुए। मठ विश्रामगृह, भोजन केन्द्र तथा शिक्षा केन्द्र के समुच्च्य थे।

पल्लव नरेशो ने संस्कृति भाषा के विकास में अभूत पूर्व योगदान दिया। प्रारम्भ के कुछ अभिलेखों को छोड़कर उनके सभी अभिलेख संस्कृत भाषा में थे। महाविद्यालयों में संस्कृत अधिस्वीकृत दल सम्वेत कारणों से दक्षिण में संस्कृत के दो मानक ग्रंथों की रचना की गयी। प्रथम भरवि का किरातार्जुनीय और दंडित का दश कुमार चरित्र। कहा जाता है कि दंडित ने एक कविता इतनी चमत्कार पूर्ण और निपुणता कि साथ लिखी थी कि वह सीधी तथा उलटी दोनों तरफ से पढ़ी जा सकती थी। सीधी पढ़ने पर महाभारत की कथा का वर्णन करती थी।

पल्लव काल में संस्कृत साहित्य के साथ-साथ तमिल साहित्य का भी विकास हुआ। इस काल का सबसे प्रमुख तमिल ग्रंथ तामिल करल है। शैव व वैष्णव संतो ने भी तमिलभाषा व साहित्य प्रसार किया। नल्लव नरेश महेन्द्र वर्मा स्वयं विद्वान् था वह मत्तविलास प्रहसन नामक एक हास्य ग्रंथ की रचना किया था। जिसमें कापालिकों तथा बौद्ध भिक्षुओं की जम कर हँसी उड़ायी गयी थी।

(5) पल्लव नरेशो अथवा पल्लव काल की ख्याति का सर्वप्रधान कारण सम्भवतः वास्तुकला के क्षेत्र में एक नवीन शैली (द्रविड) का सुत्रपात करना था। जिसका चरम, चोलो के राज्य में देखा जा सकता था। अपनी धार्मिक भावनाओं से प्रेरित होकर तथा अपने अराध्य देव की प्रतिमाओं को मंदिर में स्थापित करने के लिए पल्लवों ने भव्य व विशाल मंदिरों का निर्माण करवाया। मन्दिर धार्मिक गतिविधियों के केन्द्र बिन्दु हुआ करते थे। डा० थापर जीर यदि विश्वास किया जाए तो, यही धर्म के दोनों स्तरों (ब्राह्मण तथा भक्तिमत) का मिलन बिन्दु भी था। मन्दिर उस दान से चलता था, जो ग्राम तथा कृषि भूमि के रूप में होता था। जिसे राज परिवार के लोग दान में देते थे।

मन्दिर की छोटी-छोटी वस्तुएं जैसे, गौण मुर्तियां, दीपक, तेल आदि साधारणतः समाज के सदस्यों के व्यक्तिगत दान से प्राप्त होती थी। मन्दिर के सेवक विभिन्न श्रेणियों के होते थे, जबकि मन्दिर के पवित्र गर्भगृह में पूजापाठ केवल ब्राह्मण ही कर सकते थे। मलिनशुद्र जैसे कुम्हार, चमार तथा अश्वप्रशय मन्दिर की सीमा में नहीं जा सकते थे। क्योंकि उनकी उपस्थिति से मन्दिर भ्रष्ट हो जाता था।

तमिल संतो द्वारा धार्मिक पद और संगीत लोकप्रिय हो रहे थे और मन्दिर में इन पदों का गाया जाना नियमित हो गया था। वीणा सम्भवतः सर्वाधिक उपयोग में आने वाला बाह्य था।

मन्दिर के धार्मिक कृत्यों में नृत्य भी सम्मिलित था। लोकनृत्य से प्रारम्भ होकर मन्दिर की नृत्या कला धार्मिक विषयों को अभिव्यक्त करने के लिए अत्यंत प्रांजल तथा जटिल हो गयी। जिसके दर्शन हमें उस कला की अंतिम शैली भारतनाट्यम में होते हैं। पल्लवकाल से अधिक समृद्ध मन्दिरों में प्रशिक्षित नृतकियों को रखा जाने लगा।

(ख) दक्षिण भारत में 'द्रविड' शैली का जन्मदाता पल्लवों को ही स्वीकार किया गया है। पल्लवों ने सर्वप्रथम उस वास्तु परम्परा का री गणेश किया था, जिससे परवर्ती युग में विशिष्ट द्रविड शैली का विकास हुआ। 7वीं से 9वीं शताब्दी तक पल्लवों ने आधुनिक तमिलनाडू के अधिकांश भू-भाग पर शासन किया था। इनकी

राजधानी कांची से अनेक बहुसंख्यक कला कृतिया प्राप्त हुई थी। समुद्रतक को इन्होनों अपनी अमर कला कृतियों से अमर बना दिया था।

नीलकंठ शास्त्री का कथन निःसंदेह सत्य प्रतीत होता है कि "पल्लवों की वास्तु एवं तक्षण कला दक्षिण भारतीय कला के इतिहास में सर्वाधिक गौरवशाली अध्याय है।"

'Their arehitecture and Sculplure censitute the most brilliant chapter n the history of south India Art.' पल्लव नरेशो ने गुहामन्दिर एवं एकाश्मक मन्दिर का निर्माण करवाया।

लगभग तीन शताब्दियों में पल्लव वास्तु को रचना की दृष्टि से दो वर्गों में विभाजित किया गया है।

(1) प्रथम – पूर्णशैलोत्कीर्ण वास्तुकला

(2) द्वितीय– पूर्ण संरचलात्मक मन्दिर

प्रथम काल को दो भागों में– महेन्द्र शैली व मामत्य शैली में तथा द्वितीयमल को राजसिंह शैली तथा नंदिवर्मन शैली के नाम से जाना जाता है।

(1) महेन्द्र शैली– (610–640)– इस शैली के अंतर्गत कठोर पाषाण को काटकर गहा मन्दिरों का निर्माण हुआ, जिसे मण्डप कहा जाता है। ये मण्डप साधारण हाल के समान है, जिनकी पीछे की दीवार में एक दो कोठरियां बनायी गयी है। हाल के सामने प्रवेशद्वार पर स्तम्भे की पंक्तियां बनायी बयी थी। इस शैली के मण्डप में मण्डप पट्टु का त्रिमुर्ति मण्डप "पल्लवरम् का पंचपाडव मण्डप" महेन्द्रवाड़ा का महेन्द्र विष्णु मण्डप– मामण्डर का विष्णु मण्डप सर्वाधिक अल्लेखनीय है।

(2) मामल्ल शैली–(640–674 AD) इस शैली का प्रमुख केन्द्र मामल्लपुरम था, जिसे नरसिंहवर्मन का प्रथम ने अपने नाम के आधार पर बसाया था। इसके अंतर्गत दो स्मारक बने मण्डप तथा रथ। इस प्रकार मण्डपों के निर्माण की परम्परा मामल्ल युग में भी प्रचलित रही। लेकिन इस युग के प्रथम युग की अपेक्षा अधिक विकसित एवं द्रविड वास्तु के स्वरूप निर्धारक है। मामल्लयुग के लगभग 10वें मण्डप प्राप्त हुए हैं। जिनमें धर्मराज मण्डप, आदिवाराह मण्डप, महिषमदिनी मण्डप, पंचपाडव मण्डप, रामानुज मण्डप आदि प्रमुख हैं। इसमें पहाड़ों की चट्टानों र गंगावतरण शैषशयी विष्णु, महिषासुरवध, वराहअवतार और गोवर्धन धारण के दृश्य बड़ी सजीवता और सुदरता के साथ उत्कीर्ण किये गये हैं।

मामल्ल शैली के रथ सप्त पेगोडा के नाम से भी विख्यात है। एक ही शिलाखंड को काटकर व तराश कर पाये गये छोटे मन्दिरों को एकाश्मक रथ कहा गया है। ये रथ मुर्ति कला के भी सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। प्रमुख आठ रथ हैं– द्रौपदीरथ, अर्जुनरथ, भमररथ, धर्मराजरथ, सहदेवरथ, गणेशरथ, पिंडारिरथ, वलैयानकुट्टम रथ। ये सभी रथ सम्भव शिव मन्दिर थे। नकल सहदेव रथ के अतिरिक्त अन्य सभी रथों पर विमिल देवी देवताओं जैसे, दुर्गा, दन्द्र शिव गंगा पार्वती हरिहर, ब्रहमा, स्कन्द आदि मूर्तिया मिलती है

(3) राजसिंह शैली–(674–800)– इस शैली का प्रारम्भ पल्लव नरेश नरसिंह वर्मा द्वितीय ने किया था। इस शैली के अंतर्गत मुहामन्दिरों (Rock Temples) अथवा

एक ही पाषाण खंड को काटकर व तराशकर के स्थान पर पाषाण, ईट आदि की सहायता से स्वतंत्र रूप पूर्णतयः संरचनात्मक मन्दिरों का निर्माण किया गया। इस परिवर्तन का क्रांतिकारी प्रभाव पड़ा। पहले कला काट को अधिक भ्रम एवं समय की आवश्यकता थी। अब कलाकार उस भ्रम एवं समय की बचत करते हुए पाषाण खंडों से निर्मित मन्दिरों में अपनी कलात्मक प्रतिभा एवं सौंदर्य से ज्ञान के प्रयोग में पूर्ण स्वतंत्र था। इससे वास्तव में कलाकारों के लिए उनकी प्रतिभा प्रदर्शन का क्षेत्र विस्तृत कर दिया। इस शैली के मन्दिरों में तीन महावलिपुरम से प्राप्त हुए हैं। शोर मन्दिर, ईश्वरमन्दिर तथा मुकुन्द मन्दिर।

इस शैली का प्रथम मन्दिर, महावसिपुरम के समुद्र के तट पर स्थित शोर मन्दिर है। यह पल्लव कलाकारों की अदभुत कारीगरी का नमूना है। इसके निर्माण के कलाकार इस भावना से प्रेरित था कि सूर्योदय की प्रथम किरणें मन्दिर में प्रविष्ट हो तथा बंदरगाह में प्रविष्ट जहाज के यात्री मन्दिर का ही प्रथम दर्शन करें। इसका गर्भगृह समुन्द्र की ओर है। इसके चारों ओर प्रदक्षिणापथ हो दीवारों पर गणेश स्कन्द गज तथा शार्दूल आदि की मुर्तियां उत्कीर्ण हैं।

इस शैली का वस्तु कहीं अधिक विकसित उदाहरण कांची का कैलाशासनाथ मन्दिर है। यह राजसिंह के काल में बनवाया गया था। इसका गर्भगृह आयताकार है। इसमें पिरामिडानुमा विमान तथा स्तम्भयुक्त मण्डप है। मन्दिर में शैव सम्प्रदाय एवं शिवलीलाओं से सम्बंधित अनेक सुन्दर-सुन्दर मुर्तियां अंकित हैं। पल्लव कला की सभी प्रमुख विशेषतायें 7 सिंहास्तम्भ मण्डप के सभी सुदृढ़ स्तम्भ शिखर चहारदीवारी और उसके भीतर की ओर बने छोटे-छोटे कक्ष अलंकरण इत्यादि—इस कैलाश मन्दिर में पायी जाती हैं।

कैलाशासनाथ मन्दिर के बाद निर्मित तथा इस शैली का और अधिक विकसित रूप—तैकुण्ड पैरुमाल का मन्दिर है। यह भी कांची में ही स्थित है। यह भगवान विष्णु का मन्दिर है।

(4) नंदिवर्मन या अपराजित शैली—(800—900) यह पल्लव काल के अंतिम चरण की शैली है। इसमें अतेक्षाकृत छोटे-छोटे मन्दिरों का निष्कर्ष किया गया। इसके अन्तर्गत स्तम्भों के शीर्ष भाग का अधिक विकास हुआ। इस शैली का प्रमुख उदाहरण बहर का मन्दिर है। कांची का मुक्तेश्वर व मातंगेश्वर मन्दिर भी इसी शैली का है।

इस प्रकार पल्लव कला की इन शैलियों ने मन्दिर कला के विकास में महत्तयोगदान दिया। पल्लव कला शैली की लोकप्रियता मात्र भारत तक सीमित न रहकर दक्षिण पूर्व एशिया के देशों में भी फैली। इसका पता इस बात से चलता है कि वहां के राजाओं में पल्लवों की स्थपत्य शैलियों एवं तमिल लियों का प्रयोग हो रहा था।

पल्लवों ने अपनी विशाल नौसेना के बूते पर सुमात्रा में अपने उपनिवेश स्थापित किये थे तथा श्री लंका से अपने राजनयिक सम्पर्क बनाये थे। जिससे पल्लव संस्कृति के विकास में वृद्धि हुई थी।

पल्लव समाज में मुर्तिकला का भी विकास हुआ। जिसके मूक साक्षी, मन्दिर पर उत्कीर्ण अनेक प्रकार की पशुपक्षियों मानव की सुन्दर मुर्तिया तथा चित्र है।

पल्लव मूर्तिकला के वर्ण विषय मुख्यतः ब्राह्मणदेवता, वौराणिक कथा ये पार्श्वदेवता, प्राकृतिकदृश्य, वन्य पशु तथा किंचित राजनीतिक व्यक्तित्व है। पल्लवो ने मन्दिरों में शासकों तथा उनकी रानियों की मुर्तियों का भी निर्माण किया।

डा० थापर का विचार है कि— "मुर्तिकला की दख्खन शैली, गुप्तो की शैली से अत्याधिक साम्य रखती है। पल्लव मुर्तिकला बौद्ध परम्परा बड़ी अधिक ऋणी थी और कुल मिलाकर आकृति में विशाल तथा रेखीय है। जिसमें असंकरण की वैसी प्रवृत्ति नहीं है। जो दखन की मुर्तिकला में बहुत प्रारम्भ में मिलती थी।"

---

## दक्षिण भारतीय ग्रामीण समुदाय

दक्षिण भारत में ग्राम कई प्रकार के होते थे। जैसे साधारण ग्राम ऐसे ग्राम सबसे ज्यादा होते थे, जिसमें अंतर्जातीय आबादी होती थी और वह भू-राजस्व के रूप में राजा को कर देती थी।

ब्रह्मदेय या अग्राहार ग्राम— ऐसे ग्राम संख्या में कम होते थे तथा इनमें मात्र ब्राह्मण ही निवास करते थे। ये ग्राम कर मुक्त होते थे। इसलिए ये काफी सवृद्धि ग्राम होते थे।

देवदान ग्राम— ये लगभग उसी प्रकार कार्य करते थे जैसे प्रथम साधारण ग्राम। अन्तर केवल इतना था कि उन ग्रामों का राजस्व किसी मन्दिर को दान कर दिया जाता था और यह कर राज्य के अधिकारियों द्वारा नहीं बल्कि मन्दिर के अधिकारियों द्वारा वसूल किया जाता था। परवर्ती शताब्दियों में जब मन्दिर ग्रामीण जीवन के केन्द्र बन गये, तो देवदान ग्रामों को अधिक महत्व प्राप्त हुआ। पल्लव काल में प्रथम दो श्रेणियों के ग्राम अधिक थे।

दक्षिण भारतीय ग्रामों की सर्वाधिक उल्लेखनीय विशेषता उनकी स्वायत्त शासन प्रणाली थी। इस काल में विकसित होने वाली ग्राम स्वायत्त के पीछे आधारभूत द्वारा ही होना चाहिए। इसी उद्देश्य के लिए ग्राम सभा का संगठन होता था और इसी सभा में सत्तानीहित होती थी। सभा के सदस्य विभिन्न व्यवसायिक समूहों के प्रतिनिधि जैसे बढई सुनार लुहार शिल्प कर आदि अथवा ग्राम के अन्य कार्य जैसे स्थानीय मन्दिर की देखभाल करने वाले लोग हो सकते थे।

साधारण ग्राम की सभा का 'उर' तथा अग्राहार ग्राम की सभा को 'सभ' कहते थे। नगरम नामक एक अन्य सभा होती थी। यह मुख्यतः व्यापारिक केन्द्रों में होते थे, क्योंकि ये पूर्णतः व्यापारिक हितों की रक्षा के लिए होते थे। कुछ ग्रामों में 'उर' तथा 'सभा' साथ-साथ हाती थी।

सभा अपना कार्य संचालन समितियों के माध्यम से करती थी। जैसे अनुदान समिति, उपवन समिति, राय समिति आदि

ग्राम सभा और सरकारी प्रशासन के बीच कड़ी ग्राम का मुखिया था। जो ग्राम का नेता होने के साथ-साथ ग्राम के बीच मध्यस्थ का कार्य भी करता था। ग्रामीण इकाई के रूप में ग्राम के तहत ग्रामीणों के घर उपवन सिंचाई के साधन पशुओं के बाड़े बंजरभूमि, पंचायती मैदान ग्रा के चारों ओर के वन मन्दिर तथा उसकी भूमि, शमशान भूमि तथा खेती की भूमि सम्मिलित होती थी।

भूमि की पट्टेदारी तथा कराधान के विषय में सूचना अनुदानपत्रों में दिये गये विस्तृत अभिलेखों से मिलती है। जो मुख्यतः ताम्रपत्रों पर उपलब्ध है। ग्रामों में लगाये जाने वाले कर दो प्रकार के होते थे। प्रथम किसान द्वारा राज्य को दिया जाने वाला भू-राजस्व जो भूमि की पैदावार के 6ठें से 10 वें हिस्से तक होता था और ग्राम इसकी वसूली करके राज्य के समाहर्ता के पास जमा करा देता था।



दूसरी श्रेणी में स्थानीय कर थे और इनकी वसूली भी ग्राम द्वारा ही की जाती थी, परन्तु इसका उपयोग स्वयं ग्राम की और उसके परिवेश की सेवाओं के लिए होता था। चूंकि रापय का कर कम था अतः राजस्व की पूर्ति भारवाही पशुओं ताड़ी निकालने वाले बारातो, कुम्हारों, सुनारों, धोबियों, जुलाहों, दलालों, डाकियों, घी बनाने वालों पर अतिरिक्त कर लगाकर की जाती थी।

कर निर्धारण के लिए थोड़ी-थोड़ी अवधियों के पश्चात् भू-सर्वेक्षण होता था। आवासीय क्षेत्र मन्दिर, जलाशय, सिंचाई की नहरे ऐसे क्षेत्र जहां कारीगर और अश्वशुभ्य रहते थे तथा श्मशान कर मुक्त थे।

ग्रामन्यायालय साधारण अपराध के मामले निपटाता था। उच्चतर स्तर पर नगरों और जिलों में न्यायालयों की अध्यक्षता सरकारी अधिकारी करते थे, परन्तु न्याय के मामले में राजा उच्चतम निर्णायक होता था।

---

## हर्षवर्द्धन

साम्राज्य विस्तार:— हर्ष की विजये संदिग्ध होने के कारण उनके आधार पर उसके साम्राज्य की सीमा का निर्धारण करना एक जटिल समस्या है। दक्षिण भारतीय अभिलेखों में उसे सारे उत्तरापथ का स्वामी कहा गया है।

(सकलोत्तरापथनाथ)

ह्वेनसांग के अनुसार —“हर्ष ने पड़ोसी राज्यों को अधीन कर लिया था। प्रभुता स्वीकार करने वाले राज्यों पर आक्रमण किया और अंत में सौराष्ट्र, कान्युकुब्ज, गौड़ मिथिला और उड़ीसा के पंच प्रदेशों पर अधिकार कर लिया।”

इस प्रकार वाणभट्ट, ह्वेनसांग तांगी कतिपय अभिलेखों के समवेत अध्ययन के आधार पर कुछ विद्वानों ने हर्ष को उत्तरी भारत का एक छत्त चक्रवती शासक के रूप में स्वीकार करते हैं। जिसके साम्राज्य में उत्तर भारत में हिमालय से लेकर दक्षिण में विन्ध्यपर्वत तथा पूर्व में कामरूप से लेकर पश्चिम में सुराष्ट्र तक का विशाल भूखण्ड सम्मिलित था।

“लेकिन R.C. मजूमदार हर्ष के साम्राज्य में U.P., बिहार, बंगाल तथा उड़ीसा के बाहर का कोई भी भाग रखने को प्रस्तुत नहीं है।”

हर्ष के पैत्रक साम्राज्य थानेश्वर में दक्षिणी पंजाब और पूर्वी राजपूताना सम्मिलित थे। हर्षचरित्र से ज्ञात होता है। कि— ग्रहवर्मा की मृत्यु के बाद कन्नौज के मौखरि राज्य को हर्ष ने अपने साम्राज्य में मिला लिया था। मौखरि राज्य में समस्त U.P तथा मगध का कुछ भाग सम्मिलित था। बंसखेड़ा व मधुनन के लेखों के आधार पर यह स्पष्ट हो जाता है कि अलिखित और आवस्ती के प्रदेश हर्ष के अधीन थे। प्रयाग में उसने महामगध परिषद का आयोजन करवाया था, जो वहाँ उसके अधिकार की सूचना देता है। मगध भी उसके राज्य में था। क्योंकि चीनी स्त्रोतों में उसे मगधराज कहा गया है।

अशोक की मृत्यु के बाद हर्ष ने बंगाल तथा उड़ीसा पर अधिकार कर लिया। पुलकेशिन के विरुद्ध हर्ष की असफलता ने उसका नर्वदा नदी के दक्षिण में प्रसार रोक दिया। इसके बाद हर्ष ने पूर्वी भारत की विजय के निमित्त एक दूसरी सैनिक योजना बनाई, जिसका उद्देश्य शशोक के राज्य को जीतना था। शशोक के राज्य में उड़ीसा, बंगाल तथा मगध के प्रदेश सम्मिलित थे। चीनी लेखक मात्वान लिन बताता है कि—“इसी वर्ष हर्ष ने उड़ीसा में जयसेन नामक एक बौद्ध विद्वान को 40 बड़े गांवों आय दान में दिया था।”

ह्वेन सांग लिखता है कि 693ई0 में जब हर्ष कामरूप के राजा भास्कर वर्मा के निमंत्रण पर वहां जा रहा था, तो वह बंगाल 'कजंगल' नामक स्थान में सैनिक शिविर डाल कर पड़ा हुआ था। इससे ज्ञात होता है कि हर्ष ने बंगाल को भी तीत लिया था।

इस प्रकार चीनी स्रोतों से ज्ञात होता है कि—637 में शशांक की मृत्यु के वर्ष ने उसके द्वारा शासित राज्यों मगध, बंगाल तथा उड़ीसा को अपने साम्राज्य में मिला लिया था।

ऐहोल अभिलेख से ज्ञात होता है कि हर्ष की विजयों के फलस्वरूप उसके राज्य की पश्चिमी सीमा नर्वदा तक पहुंच गयी थी। जहां हर्ष युलकोशिल द्वितीय से पराजित होकर उत्तर भारत लौट गयी। इससे ज्ञात होता है कि हर्ष के राज्य की पश्चिमी दक्षिण सीमा नर्वदा तक थी।

यमुना नदी के पश्चिम में सोनापत से प्राप्त मुहर में उसके नाम का उल्लेख मिलता है। जो वहां हर्ष के अधिकार को सूचित करती है। इस प्रकार पश्चिम में यमुना तथा नर्मदा नदियों के बीच का भाग हर्ष के साम्राज्य में था।

हर्षचरित से ज्ञात होता है कि उत्तर में उसका साम्राज्य नेपाल तक विस्तृत था या नहीं इसके विषय में कुछ निश्चित पूर्वक नहीं कहा जा सकता। क्योंकि हर्षचरित से मात्र इतना ही ज्ञात होता है कि—“हर्ष ने हिमाच्छादित पर्वतों के दुर्गम प्रदेशों से कर प्राप्त किया था।”

पूर्व में कामरूप में उसके साम्राज्य में सम्मिलित नहीं था। हर्षचरित से ज्ञात होता है कि— कामरूप नरेश आजीवन हर्ष का मित्र बना रहा और हर्ष ने कभी भी उसके राज्य पर आक्रमण नहीं किया। इसी प्रकार उत्तर में— कश्मीर भी उसके राज्य में नहीं था।

जीवनी से मात्र इतना ज्ञात होता है कि—कश्मीर नरेश बौद्ध था, उसके पास भगवान बुद्ध का एक दांत था। जिसके प्राप्त करने के लिए हर्ष ने बल का प्रयोग किया।

पश्चिम में ‘वलभी’ भी उसके राज्य में नहीं था। क्योंकि नौसारी दानपत्र से ज्ञात होता है कि—“वलभी नरेश ध्रुवसेन द्वितीय हर्ष से पराजित तो अवश्य हुआ, लेकिन गुर्जर नरेश दद्रद द्वितीय द्वारा उसका परिलान कर दिया गया।”

हर्ष ने वलभी नरेश को अपनी तरफ मिलाने के लिए अपनी पुत्री का विवाह उससे कर दिया। परिणाम स्वरूप वह उसका सहायक व मित्र बन गया।

—सिन्धु भी उसके साम्राज्य में नहीं था। हर्षचरित से मात्र इतना ही ज्ञात होता है कि—“सिन्धु राज को युद्ध क्षेत्र में वियमित करके उसकी राजलक्ष्मी को छीन लिया।”

—इस आधार पर कहा जा सकता है कि हर्ष के साम्राज्य में—“उत्तर में हिमालय से लेकर दक्षिण में विन्ध्य पर्वत तक तथा पूर्व में कामरूप से पश्चिम में सुराष्ट्र तक सम्मिलित था।”

उसके साम्राज्य के अन्तर्गत— थानेश्वर, पंजाब, कन्नौज, यू० पी०, बिहार, बंगाल तथा उड़ीसा सम्मिलित था तथा वलभी, पश्चिमी मालवा, सिंध आदि राज्य अर्द्धस्वतंत्र थे। जबकि काश्मीर तथा कामरूप उसके मित्र राज्य थे।

क्या हर्ष उत्तरी भारत का अंतिम हिन्दू सम्राट था।

गुप्त साम्राज्य के विघटन के बाद उत्तरी का जो राजनीतिक विकेन्द्रीकरण हुआ। उसको समाप्त करने का श्रेय हर्ष को है। यद्यपि तरकीन, अराजकता और अव्यवस्था का अंत कर हर्ष ने देश की सांस्कृतिक उन्नति का मार्ग प्रशस्त किया। अभिलेखों में उसे 'सकलोत्तरा पथनाथ' और 'सभी देवताओं' का सम्मिलित अवतार कहा गया है और उसका साम्राज्य उत्तर में हिमालय से लेकर दक्षिण में विन्ध्य पर्वत तक और पूर्व में कामरूप से लेकर, पश्चिम में सुराष्ट्र तक फैला था। तथापि इसके बावजूद भी उसे हिन्दू भारत का अंतिम महान शासक नहीं कहा जा सकता। क्योंकि हर्ष के बाद शासन करने वाले कन्नौज नरेश, यशोवर्मा, कश्मीर नरेश ललितादित्य, प्रतिहार नरेश मिहिरभोज, महेन्द्रपाल तथा पालशासक धर्मपाल आदि का साम्राज्य न तो हर्ष के साम्राज्य से कम था और न महानता में वे हर्ष से कम थे।

प्रतिहार शासक महेन्द्रपाल इन सभी में सर्वाधिक शाक्तिशाली एवं तेजस्वी था उसने भी कन्नौज को राजधानी बना कर शासन किया था। दूसरे जहां हर्ष की अधिकांश विजये संदिग्ध हैं। वहां इस बात के निश्चित प्रमाण हैं कि— महेन्द्रपाल का साम्राज्य हिमालय से विन्ध्य पर्वत तक तथा पूर्वीघाट से पश्चिमी घाट तक विस्तृत था। इन सभी क्षेत्रों में उसके तथा उसके सामंतों के अभिलेख प्राप्त होते हैं। इस विस्तृत प्रदेश पर हर्ष की अपेक्षा महेन्द्रपाल अधिक कुशलता से शासन किया था।

उसके समय में कन्नौज का सांस्कृतिक गौरव हर्ष काल से बढ़कर था। अतः यदि उत्तरी भारत का अंतिम महान हिन्दू सम्राट हाने का श्रेय किसी शासक को देना है तो उसके लिए हर्ष की अपेक्षा महेन्द्रपाल अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है।

(1) यशोवर्मन— यशोवर्मन के दरबारी कवि वाम्पति के गौड़वधे नामक महाकाव्य से ज्ञात होता है कि—“वह अपनी सेना लेकर विन्ध्याचल पहुंचा विन्ध्यवासिनी की पूजा करके मगध देश पर चढ़ाई की। यूद्ध में मगध राज मार डाला गया। तत्पश्चात् उसने बंगदेश पर चढ़ाई की, बंग ने उसकी अधीनता स्वीकार किया।”

बंगविजय के बाद यशोवर्मन ने दक्षिण के राजा को परास्त किया तथा यमयगिरी को पार किया। उसने वारसी को हराया। पश्चिमी घाट के दुर्गम क्षेत्रों से कर प्राप्त किया। वह नर्मदा नदी के तट पर आया तथा समुन्द्र तट से होते हुए मरुदेश जा पहुंचा। वहां से वह श्री कंठ आया और वहां से कुरु क्षेत्र होता हुआ अयोध्या पहुंचा। मंदराचल पर्वत के निवासियों ने उसकी अधीनता स्वीकार किया। उसने हिमालय क्षेत्र की भी विषय की।

पल्लव समाज

पल्लव युगीन समाज में वैदिक ब्राह्मण धर्म एवं सामाजिक व्यवस्था के प्रति विशेष आग्रह स्थापित था। अतः विभिन्न वर्गों में विभक्त तत्पुगीन समाज में वर्ण एवं जाति व्यवस्था सुदृढ़ हो रही थी। सामाजिक संरचना में ब्राह्मण पुरोहितों एवं क्षत्रिय राजकुलों को सर्वोपरि महत्त्व था। वर्ण एवं जाति दोनों रूपों में ब्राह्मणों की स्थिति अन्य वर्णों की अपेक्षा अधिक अच्छी थी। इस काल के साहित्यिक ग्रंथों तथा अभिलेखों तथा

विदेशी यात्रियों के विवरणों के तत्पुगीन समाज में ब्राह्मणों की सर्वाधिक श्रेष्ठता प्रमाणित होता है।

पूर्व कालों की भांति उस काल के समाज में भी ब्राह्मणों का कार्य मुख्यतः अध्ययन—अप्यापनः भजन—भाजन तथा दान ग्रहण करना था।

पल्लव युगीन तमिल समाज उत्तरी भारत की आर्य संस्कृति के व्यापक प्रभाव को नकारा नहीं जा सकता है। अतः ब्राह्मणों को उस काल में भी पारम्परिक पद एवं मर्यादा की वरेण्य स्थिति प्राप्त थी। उनको समय—समय पर दिये गये भूमि अनुदानों से इसकी सम्पुष्टि होती है। पल्लव राज्य में शिक्षण संस्थाओं के विकास में आर्यत्वीकरण एवं तदनुसार ब्राह्मणों को एतत्कार्य में परम्परागत दायित्व के निर्वाह की स्थिति बहुशः प्रमाणित होती है। यहां हमें इस बात पर ध्यान रखना अपेक्षित है कि पल्लव शासन के प्रारम्भिक चरण में शैक्षणिक संसथओं के संचालन का दायित्व जैन तथा बौद्ध धर्माचार्यों के ऊपर आश्रित था। किन्तु महेन्द्र बर्मन प्रथम एवं उनके वंशज महान पल्लव शासकों की ब्राह्मण धर्म में बढ़ती हुई अनुशक्ति के परिणाम स्वरूप शनैः शनैः विद्या दान एवं धार्मिक अनुशासन का उत्तरदायित्व ब्राह्मणों को प्राप्त हो गया। आर्य संस्कृति के महान पोषक ब्राह्मणों ने पल्लव समाज में प्रचलित तमिल एवं प्राकृत भाषाओं के साथ—साथ संस्कृत भाषा के प्रचार एवं प्रसार में गहरी रूचि ली।

राजतरंगिणी से ज्ञात होता है कि कुछ ब्राह्मण शस्त्रोपजीवी थे। इस युग के स्मृतिकारों ब्राह्मणों के लिए पशुपालन एवं साहूकारों जैसे— कर्मों का निषेध किया है। चीनी यात्री इत्सिंग ने लिखा है कि भारत के पांचो भागों में (पंच भारत) ब्राह्मणों का देवताओं के समान समादर था। दसवीं शती में भारत की यात्रा पर आये विद्वान अरब, अलमसूदी के अनुसार यहाँ की सभी जातियों में ब्राह्मणों को सर्वश्रेष्ठ स्थान प्राप्त था। इसी बात की पुष्टि अलबेरूनी ने भी की है। मेघातीथि ने तत्कालीन समाज में ब्राह्मणों की सर्वाधिक सामाजिक प्रतिष्ठा की पुष्टि करते हुए लिखा है कि राजा को अपराधी ब्राह्मण पर जुर्माना भी नहीं लगाना चाहिए।

इस काल के शास्त्रकारों ने जन्म के सिद्धान्त पर व्यक्ति के वर्ग अथवा जाति निर्धारण पर बल दिया। फलतः उस युग के अनेक ऐसे मुखिया अथवा जो शासक मूलतः तमिल प्रदेश की आदिम जनजातियों से उभर कर तत्कालीन समाज में अपनी महत्ता स्थापित कर लिए थे। ब्राह्मण पुरोहितों की सहायता से पारम्परिक क्षत्रिय वर्ग अथवा जाति में स्थान प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील थे।

उपर्युक्त शासकों के पूर्वजों का सम्बन्ध पल्लव युगीन पुरोहितगणों ने उत्तर भारत में परम्परथा प्रतिष्ठित सूर्य अथवा चन्द्रवंशीय क्षत्रिय राजकुलों से जोड़ने का प्रयास किया। रामशरण शर्मा का मत है कि क्षत्रिय जाति में सम्मिलित होने से आदिम जातियों के इन नवादित शासकों को तत्कालीन पल्लव समाज में शासन करने का वैधानिक अधिकार मिल जाता था। सत्क्षत्रिय एवं क्षत्रिय परम्परथा प्रतिष्ठित राजवंशों को सम्भवतः उसने सत्क्षत्रीय तथा सामान्य क्षत्रिय कुलों को क्षत्रिय माना है। सत्क्षत्रीय प्रशासक शस्त्र एवं शस्त्रों के जानकर होने के कारण समाज में विशेष प्रतिष्ठित थे।

पल्लव युगीन समाज में वैश्यों की समाजिक स्थिति अच्छी नहीं थी। अलबेरूनी ने लिखा है कि तत्कालीन समाज में सैश्यों एवं शुद्रों की भांति वैश्यों को भी वेद—श्रवण

के अधिकार से वांचित रखा गया। परन्तु अलबेरुनी के उक्त आशय के विपरीत इस युग के स्मृतिकारों तथा वास्तुशास्त्रियों ने वस्तुतः वैश्यों की उच्च सामाजिक प्रतिष्ठा की पुष्टि की है। पल्लव युगीन समाज में वैश्य वर्ग प्रभूत सम्पन्न था। वे सम्भवतः जैन धर्म के प्रति अधिक अनुरक्त थे तथा जैन मठों: विद्यालयों आदि को दान देने में उनकी निष्ठा अधिक थी। पल्लव कालीन समाज में शुद्रों की सामाजिक स्थिति निम्न थी। वे वेदों के पठन-पाठन को कौन कहे उन्हें सुनने के भी अधिकारी न थे। श्रमिकों का एक बड़ा समूह सामान्य तथा शूद्र समझा जाता था। इनमें खेतिहर मजदूरों के अतिरिक्त व्यवसायिक श्रमिकों को भी सम्मिलित माना जा सकता है। सभी प्रकार के उद्योग एवं व्यवसाय शूद्रों की आजिवका के साधन थे, परन्तु आर्थिक स्थिति में अपेक्षाकृत सुधार होने के बावजूद शूद्रों की सामाजिक स्थिति में कोई उल्लेखनीय परिवर्तन नहीं हो सका था।

पल्लव युगीन समाज पर सामंतवाद के व्यापक प्रभाव को अस्वीकार नहीं किया जा सकता है। इस कूलीन शासक वर्ग की पदसोपना (Hierarchy) प्रवृत्ति ने उत्तरोत्तर अपना सामाजिक शिकंजा मजबूत कर लिया। पल्लव युगीन बहुसंख्यक ताम्रपत्र अभिलेखों में आख्यात राजाओं द्वारा समय-समय पर तत्कालीन धार्मिक संस्थाओं एवं ब्राह्मणों को दिये गये भूमि एवं ग्राम दोनों में कभी-कभी कृषकों एवं शिल्पियों का भी हस्तान्तरण होता था। इस प्रकार के कृषक अथवा शिल्पी जो प्रायः शुद्र हुआ करते थे। पीढ़ी दर पीढ़ी दान ग्रहिताओं के अधीन रहकर सेवा कार्य के लिए विवश रहते थे।

अस्पृश्यता:— पल्लव युगीन समाज में ब्राह्मण धर्म के व्यापक प्रचार प्रसार एवं प्रभाव के फलस्वरूप शूचिता एवं श्रेष्ठता का भाव अपेक्षाकृत बढ़ गया। वर्णव्यवस्था एवं जाति व्यवस्था के पोषक बहुसंख्यक उत्तरभारतीय संतो, आचार्यों एवं ब्राह्मणों के प्रति तत्कालीन अभिजात्य वर्ग में बढ़ती हुई आस्था ने परम्परागत अस्पृश्यता की भावना को और भी सुदृढ़ कर दिया।

कतिपय अन्य जातियों को भी अस्पृश्य श्रेणी में रखा जाने लगा। इनमें चर्मकार, रजक, वरुण (चटाई, टोकरी) आदि बनाने वाले नर, धीवर, कैवर्त, भेद (आदिवासी) तथा भिल्ल आदि प्रमुख थे। इस युग की स्मृतियों में ऐसी ही कुछ अन्य जातियों का भी अन्तयज कहा गया है। व्यासस्मृति में पुस्कर कोली, वराट आदि को अन्तयजों में परिगणित किया गया है। अन्त्यज जातियों की संख्या में आई क्रमिक वृद्धि की पुष्टि बृहद्धर्म एवं स्कन्द पुराण से भी होती है। तमिल साहित्य में वर्णित कतिपय भूमिहीन, श्रमजीवी, खेतिहर मजदूरों (कुदीस) जो प्रारम्भ में निम्नतम श्रेणी के शूद्र थे। सम्भवतः पल्लव युगीन समाज में अछूत माने जाने लगे। वक्त साहित्य में दन जातियों के चार समुदायों तथा—पाड़ान सुड़ियान, परयन तथा कदम्बन को स्पष्टतः अस्पृश्य घोषित किया गया है।

स्त्रियों की दशा :—

पल्लव कालीन समाज में स्त्रियों की दशा श्रेष्ठ थी। वे पुरुषों की भांति सामाजिक समारोहों, उत्सवों अथवा कार्यों में भाग लेती थीं। नारियों में पर्दा-प्रथा नहीं

था तथा वे खुलकर नृत्यादि सार्वजलिका समारोहों में स्वतन्त्रापूर्वक उपस्थित होती थी। सामान्यतः शासक वर्ग के लोग एक से अधिक पत्नियां रखते थे। अतः तत्कालीन समाज में बहुविवाह प्रथा को अस्वीकार नहीं किया जा सकता है। समाज में नारियों को स्वतन्त्रता मिलने के कारण प्रेम विवाह की प्रथा कल्पनीय है। महत्वपूर्ण नगरों अथवा बन्दरगाहों में सुरायान एवं वेश्यावृत्ति का प्रचलन था। वेश्याओं को जन सामान्य से अलग मुहल्ले अथवा गलियों में बसना पड़ता था।

### आमोद-प्रमोद

पल्लव कालीन समाज में खेलकूद संगीत तथा नृत्य आदि मनोरंजन के प्रमुख साधन थे। प्रायः गावों में एक खुला मैदान होता था। पल्लव समाज में कई प्रकार के नृत्य प्रचलित थे। जिनमें आट्टम, कुत्तु एवं तलैकोल कुनिस्सु आदि प्रमुख थे। नृत्य प्रायः अभिनय से पूर्ण होते थे तथा भिन्न-भिन्न अवसरों पर भिन्न-भिन्न प्रकार के नृत्य अभिनयों से लोग अपना मनोरंजन करते थे। कुरुवो कुत्तु नामक विशिष्ट नृत्य पर्वतीय एवं पठारी भागों में रहने वाले पशुचारको में विशेष लोकप्रिय था। कन्याओं को बचपन से ही संगीत की शिक्षा दी जाती थी। पल्लव युगीन लोग प्राकृतिक सुषमा के बड़े प्रेमी थे। फलतः उन्हें फूलों एवं फलों से बड़ा लगाव था। अपने श्रंगार के लिए फूलों एवं सुकोमल पत्तियों का उपयोग करती थी। फूलों एवं फूल मालाओं का उपयोग लोग विभिन्न सामाजिक उत्सवों एवं सामारोहों में भी करते थे।

आहार और वेषभूषा:— पल्लव युगीन समाज सादागी पसन्द थे। प्रायः लोगों का भोजन सादा एवं सात्विक था। भोज्य पदार्थों में दूध, दही, घी, मांस, चावल तथा ज्वार आदि प्रमुख थे। तत्कालीन समाज में सुराजान विशेष प्रचलित था।

तमिल पल्लव समाज की वेष-भूषा सादी थी। पुरुषों में धोती तथा पगड़ी पहनने की प्रथा विशेष प्रचलित थी। स्त्रियां अपने श्रंगार प्रसाधन हेतु रत्नजटित अंगूठियां, हार, कन्दौरे, आयल भुजबन्द तथा चूड़िया धारण करती थी। सम्पन्न एवं राजकुलों की स्त्रियां एक प्रकार की रत्नजटित टोपी पहनती थी।

---

## “चालुक्य संस्कृति”

(1) साहित्य :- वातापि (बादामी) के चालुक्यों का शासन प्रायद्विपीय दक्कन (पश्चिमी दक्षिणापथ) के इतिहास में विशेष महत्वपूर्ण काल माना जाता है। उन्होने लगभग 300 शताब्दियों तक शासन किया। इस लम्बी अवधि में चालुक्यों ने साहित्य कला तथा धर्म के आदि सम्बन्ध में महत्वपूर्ण योगदान किया।

साहित्य सृजन में संस्कृत भाषा का उपयोग चालुक्य युगीन समाज की जागरूकता का परिचायक है। इस काल में उत्कीर्णता अभिलेखों में क्लासिकल संस्कृत का प्रयोग किया गया है। ऐहोल प्रशास्ति में संस्कृत भाषा एवं छन्दों का जो स्वरूप मिलता है। उससे यह सहजतः अनुमन्य है कि संस्कृत साहित्य को दक्षिणापथ में पर्याप्त समादर प्राप्त था। इसी प्रकार ऐहोल प्रशास्ति की पंक्तियां गुप्तकालीन प्रशास्ति न्यों के समतुल्य है। जिनमें छन्द प्रयोग एवं शैली महाकवि कालीदास, भारवि आदि क्लासिकल कवियों की पदावनियों की अनुकृति सी लगती है। इसी युग में महाकवि सोमदेव सूरि ने ‘यशस्तिलकचम्पू’ और ‘नीतिवाक्या मृतम’ जैसे महान ग्रंथों का सृजन किया। इस काल में कतिपय महान विद्वानों में ‘उदयदेव’ का नाम विशेष उल्लेखनीय है। वे अपने समय के व्याकरणाचार्य थे।

अभिलेखिक साक्ष्यों से ज्ञात होता है कि अकेले राजधानी बादामी में ही अनेक विधाओं में निष्णात हजारों ब्राह्मण रहते थे। चीनी यात्री ह्वेनसांग के विवरणों से पता चलता है कि चालुक्य समाज में शिक्षा के प्रति बड़ी जागरूकता थी तथा महाराष्ट्र में विद्या एवं कला के प्रति लोगों में अगाधि प्रेम था। इसका प्रत्यक्ष प्रभाव आज 20वीं शताब्दी में भी यहाँ की सांस्कृतिक परम्पराओं में देखा जा सकता है।

## “धार्मिक स्थिति”

बादामी के चालुक्य नरेश हिन्दू थे तथा हिन्दू धर्म में उनकी गहरी आस्था थी। फलतः उनके राज्य काल में इस धर्म की विशेष प्रगति हुई। उन्होंने वैदिक धर्म के अनुसार अश्वमेध, वाजपेय आदि याज्ञिक अनुष्ठान भी किया था।

चालुक्य कालीन समाज में ब्रह्मा: विष्णु शिव, स्कन्द आदि पौराणिक देवों की उपासना विशेष लोकप्रिय थी। इन देवों की आराधना के लिए बादामी: पट्टकल, ऐहोल आदि केन्द्रों में मन्दिरों का निर्माण किया गया। इस काल की मूर्तियों से ज्ञात होता है कि चालुक्य समाज में शिव एवं विष्णु दोनों देवों की पूजा विशेष प्रचलित थी।

मन्दिरों में अंकित प्रतिमाओं में विष्णु के वहा एव नृसिंह अवतारों से सम्बन्धित प्रतिमायें अधिक सम्पूज्य थी। शैव प्रतिमाओं में कैलाशनाथ, निरुपाक्ष, लौक्येश्वर, लोकेश्वर तथा अन्य अनेक शिव रूपों की प्रतिमायें विशेष उल्लेखनीय है। जो अनेक स्थापित एवं पूज्य थी।



मन्दिरों को भित्तियों पर रामायण आदि कथाओं के दृश्य अंकित मिलते हैं। चालुक्य नृपतियों की परमभगवत उपाधि से भी हिन्दू धर्म के प्रति उनकी अनुरक्ति का बोध होता है। ब्राह्मणा धर्मानुयायी चालुक्य में धार्मिक सहिष्णुता का पूर्व भाव परिलक्षित होता है।

चालुक्य समाज में हिन्दू धर्म के बाद जैन धर्म सर्वाधिक लोकप्रिय था। ऐहोल अभिलेख का सुप्रसिद्ध प्रशास्तिकार रविकीर्ति जैन धर्मावलम्बी था जिसे प्रतापी पुलकेशिल की विशेष कृपा प्राप्त थी। उसने अपने आराध्य जिनेन्द्र की पूजा हेतु 'मेगुती मन्दिर' का निर्माण कराया था। चालुक्य कालीन समाज में जैन धर्म की अपेक्षा बौद्ध धर्म का प्रभाव कम था। पुलकेशिन तृतीय के शासन काल में बौद्ध चीनी यात्री ह्वेनसांग ने चालुक्य राज्य की यात्रा की थी। उसके विवरणों से ज्ञात होता है कि वहाँ हीनयान तथा महायान दोनों सम्प्रदायों के बौद्ध धर्मानुयायी रहते थे। जिनकी संख्या 5000 से अधिक थी।

### "चालुक्य कला"

चालुक्यों के शासनकाल में कला का सर्वांगीण विकास हुआ। फलतः पश्चिमी घाट की पहाड़ियों में बौद्ध एवं जैन गुहामन्दिरों के अनुकरण पर हिन्दु देव मण्डलों की आराधना हेतु पर्वतीय गुफाओं को काट तराश कर वहाँ अनेक भव्य मन्दिर निर्मित कराये गये। चालुक्य मन्दिर वास्तुकलों के उत्कृष्टतम केन्द्र तेर(टेर अथवा टगेर) ऐहोल पट्टकला बादामी आदि थे।

ऐहोल में 634 ई० में निर्मित किया गया मेगुली का जैन मन्दिर अपूर्ण किन्तु भव्य था। बादामी (वातापि) में भालेगिती शैव मन्दिर 625 ई० में बनवाया गया, जो चालुक्य मन्दिर वास्तुकला का सुन्दर एवं शालीन उदाहरण है। पट्टकला में बनावाये गये मन्दिरों में लोकाेश्वर शिव 'विरूपाक्ष' तथा पापनाथ के मन्दिर कलात्मकता भी दृष्टि से असाधारण है। इनका निर्माण 8वीं शताब्दी ई० के प्राथमिक वर्षों में किया गया। इन मन्दिरों के निर्माण पर पल्लव द्रविण वास्तुशैली का प्रीभाव देखा जा सकता है। इन मन्दिरों का आकार बड़ा है तथा इनमें प्रदक्षिणापथ तथा मण्डप को कांची के कैलाश मन्दिर की अनुकृति पर बनाया है।

मन्दिर के स्तम्भो, चौखटों तथा भित्तियों पर पौराणिक देवी, देवताओं, नाग, नगियों तथा रामायण के अनेक दृश्य अंकित किये गये हैं। लोकाेश्वर विरूपाक्ष शिव मन्दिर की गणना भारत के सुन्दरतम मन्दिरों में की जाती है। इसके निर्माता स्थपति गंड को त्रिभुवनाचार्य की उपाधि प्रदान की गयी थी। इसके विपरीत पापनाथ के मन्दिर में द्रविड एवं नागर दोनों कला शैलियों का संयुक्त प्रभाव परिलक्षित होता है। वस्तुतः इस मन्दिर का शिखर जो नागर शैली का है। का हर तीसरे मोड़ पर शैल आमलंका का निर्माण किया गया है। उपर्युक्त मन्दिरों के निर्माण शैली को सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इनमें प्रयुक्त भारी शिलाखण्डो को बिना गारे की सहायता लिए ही एक पर एक रखकर संचरित किया गया है।

चालुक्य के शासन काल में उपर्युक्त हिन्दू मन्दिरों के अतिरिक्त अनेक गुहा मन्दिरों का निर्माण किया गया। पर्वत को काट कर बनाये गये मन्दिरों के प्रमुख केन्द्र थे। वातापि, एलोरा, एलिफैन्टा औरंगाबाद तथा अजन्ता आदि। ये गुहा मन्दिर जैन, बौद्धतया हिन्दू धर्मो से सम्बन्धित है।

पश्चिमी घाट की गुफाओं में मन्दिर वास्तु निर्माण की जो परम्परा गुप्त वाकाटक युग में विकसित हुई थी उसकी कलात्मक पराकाष्ठा चालुक्यों के काल में एलोरा की कला में दिखलाई पड़ती है। एलोरा अजन्ता से 75 किलो मीटर दूर औरंगाबाद जनपद में स्थित है। यह स्थान अपनी स्थापत्यकला के लिए विशेष प्रख्यात है। यहाँ के मन्दिर वारादरी के भांति दो-दो अथवा तीन-तीन तलों में काट कर बनाये गये है। जबकि अजन्ता आदि केन्द्रो की गुफाओं में एक तलीय मन्दिरों का ही विन्यास मिलता है। एलोरा में तीनो सम्प्रदायों के गुहा मन्दिर बने है। जिनमें 17 हिन्दू एक चैत्य एवं 11 बौद्ध विहार तथा शेष जैन मन्दिर है। इन मन्दिरों की सथापत्य गत तथा अन्य शिल्पीय विशेषता उनके स्तम्भों पर उत्कीर्णित प्रतिभावनो एवं अलंकरणों में तथा देवी देवताओं की सजीव मूर्तियों के निर्माण में परिलक्षित होती है। यहाँ हिन्दू मन्दिरों में दशावतार, धूमरलेण, रामेश्वर तथा रावण की खाई आदि का निर्माण वातारि के महान चालुक्यों के शासन काल में ही हुआ।

अजन्ता की गुफा संख्या 2 में जात कों के अनेक दृश्य चित्रांकित है। इनमें क्षन्तिवादी तथा मैत्रिक जातकों के कतिपय कथा दृश्यों को पहचान की जा चुकी है। जातका दृश्यों के साथ-साथ दनमें रनिवास, इन्द्रलोक आदि दृश्यों को भी चित्रित किया गया है। इसी गुफा में बुद्ध के हजारों रूपों की अभिवयक्ति को प्रकाशित करने वानी श्रीवस्ती की सुप्रसिद्ध कथा भी चित्रांकित है।

## विश्वविद्यालयों तथा उनका योगदान

बौद्ध धर्म के उन्नति के साथ-साथ बिहार भी शिक्षा के केन्द्र बन गये तथा कुछ ख्याति प्राप्ति महाविद्यालयों एवं विश्वविद्यालयों के रूप में विकसित हो गये। प्राचीन भारत के प्रमुख विश्वविद्यालयों का विवरण इस प्रकार है:-

नालन्दा :- प्राचीन भारत के शिक्षा केन्द्रों में नालन्दा विश्वविद्यालय का नाम सर्वाधिक उल्लेखनीय है। बिहार प्रान्त की राजधानी पटना के दक्षिण में लगभग 40 मील की दूरी पर आधुनिक बड़ गांव नामक ग्राम के समीप यह स्थित था। सर्वप्रथम यहाँ एक बौद्ध बिहार की स्थापना गुप्त काल में करवाई गई। हर्ष काल तक आते-आते नालन्दा महाविहार एक अन्तरराष्ट्रीय ख्याति के विश्वविद्यालय के रूप में विकसित हो गया।

नालन्दा में की गई खुदाइयों से पता चलता है कि यहां का विश्वविद्यालय लगभग एक मील चौड़े क्षेत्र में स्थित था। भवन: स्तूप एवं विहार वैज्ञानिक योजना के आधार पर बनाये गये थे। विश्वविद्यालय में आठ बड़े कमरे तथा व्याख्यान के लिए तीन सौ छोटे कमरे बने हुए थे। तीन भवनों में स्थित धर्मगज्ज नामक विशाल पुस्तकालय था।

हर्ष काल में नालन्दा को पूर्ण राजकीय संरक्षण मिला। उसके परिणाम स्वरूप जगत प्रसिद्ध विश्वविद्यालय बन गया। हर्ष ने लगभग एक सौ गांवों की आय इसके निर्वाह के लिए दिया। चीनी विवरण से पता चलता है कि उन गांवों के दो सौ गृहस्थ प्रतिदिन कई सौ पिकल(एक पिकल = 133½ पौण्ड) साधारण चावल तथा कई सौ कट्टी (एक कट्टी = 160 पौण्ड) थी और मक्खन नालन्दा विश्वविद्यालय को दान दिया करते थे। इस प्रकार यहां के विद्यार्थियों को जीवनोपयोगी वस्तुएं इतने अधिक मात्रा में सुलभ थी कि उन्हें मांगने के लिए अन्यत्र नहीं जाना पड़ता था तथा ते अपना सारा समय विद्या अध्ययन में ही लगाते थे।

नालन्दा विश्वविद्यालया में न केवल भारत के कौने-कौने से अपितु चीन, मंगोलिया, तिब्बत, कोरिया, मध्यएशिया आदि देशों से भी विद्यार्थी शिक्षा ग्रहण करने आते थे। हवीनी यहाँ के विद्यार्थियों की संख्या दस हजार बताता है। ज्ञात होता है कि यहां अध्ययन, अध्यापन का स्तर अत्यन्त उच्च कोटि का था। प्रवेश के लिए एक कठिन परिक्षा ली जाती थी। जिसमें दस में दो या तीन विद्यार्थी ही मुश्किल से सफल हो पाते थे।

यद्यपि नालन्दा महायान बौद्ध धर्म की शिक्षा का प्रमुख केन्द्र था। तथापि यहाँ अन्य अनेक विषयों की शिक्षा भी समूचित रूप से प्रदान की जाती थी। पाठयक्रम में महायान तथा बौद्ध धर्म के अठारह सम्प्रदायों के ग्रंथों के अतिरिक्त वेद हेतु विद्या शब्द विद्या योगशास्त्र, चिकित्सा, तन्त्र विद्या, सांख्य दर्शन के ग्रंथो आदि की शिक्षा व्याख्यानो के माध्यम से दी जाती थी। हवेनसांग के समय शीनभद्र ही विश्वविद्यालयके कुलपति थे। चीनी यात्री उनके चरित्र तथा विद्वता की काफी प्रसंशा करता है। वे सभी विषयों के प्रकाण्ड विद्वान थे। उसने स्वयं शीलभद्र के चरणों में बैठकर अध्ययन किया था।

वह उन्हें सत्य एवं धर्म का भण्डार कहते हैं। यहाँ के अन्य विद्वानों में धर्मपाल, चन्द्रपाल, गुणमति, स्थिरमति, प्रभामित्र, जिनमित्र, ज्ञानचन्द्र आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

नालन्दा विश्वविद्यालय के पुस्तकालय में ग्रन्थों का विशाल संग्रह तथा प्राचीन पाण्डुलिपि या सुरक्षित थी। चीनी यात्रियों के इसके प्रति आकर्षण का एक कारण यह था कि उन्हें यहाँ बौद्ध ग्रन्थों की पाण्डुलिपियाँ उपलब्ध हो जाती थीं विश्वविद्यालय का प्रशासन चलाने के लिए दो परिषदें थीं। बौद्धिक तथा प्रशासनिक। इन दोनों के ऊपर कुलपति होता था। विश्वविद्यालय का खर्च शासकों तथा अन्य दाताओं द्वारा प्रदान किये गये ग्रामों के राजस्व से चलता था। इत्सिंग के समय इसके अधिकार में 200 गांवों का राजस्व था।

हर्ष के बाद लगभग 12वीं शदी तक इसकी ख्याति बनी रही। मन्दसौर प्रसतर लेख (8वीं शताब्दी) से पता चलता है कि सभी नगरों में नालन्दा अपने विद्वानों के कारण जो विभिन्न धर्म ग्रन्थों तथा दर्शन के क्षेत्र में लिष्णात थे। सबसे अधिक ख्याति प्राप्त किये हुए था। 11वीं शती से पाल शासकों ने नालन्दा के स्थान पर विक्रमशिला को राजकीय संरक्षण देना प्रारम्भ कर दिया। जिससे नालन्दा का महत्व घटने लगा। तिब्बती स्त्रोंतो से पता चलता है कि इस समय से नालन्दा पर तन्त्रयान का प्रभाव बढ़ने लगा। इस कारण भी नालन्दा की प्रतिष्ठा को ठेस पहुंची। अन्ततः 12वीं शती के अन्त में मुस्लिम आक्रान्ता बख्तियार खिलजी ने इस विश्वविद्यालय को ध्वस्त कर दिया। यहाँ के शिक्षुओं की हत्या कर दी गई तथा बहुमूल्य पुस्तकालय को जला दिया गया। इस प्रकार एक अन्तरराष्ट्रीय ख्याति के शिक्षा केन्द्र का अन्त दुखद हुआ।

योगदान:—

नालन्दा विश्वविद्यालय के विद्वानों की सबसे बड़ी उपलब्धि यह है कि उन्होंने तिब्बत में बौद्ध धर्म एवं भारतीय संस्कृति का प्रचार किया 8वीं सदी से नालन्दा के विद्वान तिब्बत में बौद्धधर्म के प्रचारार्थ जाने लगे। नालन्दा में तिब्बती भाषा का अध्ययन भी प्रारम्भ हो गया। तिब्बत में बौद्ध धर्म के प्रचारकों में सर्वप्रथम चन्द्रगोमिन का नाम उल्लेखनीय है। नालन्दा के दूसरे बौद्ध विद्वान शान्तरक्षित 8वीं सदी के मध्य तिब्बत नरेश के निमंत्रण पर वहाँ गये तथा बौद्ध धर्म का उपदेश दिया। उन्हीं के निर्देशन में प्रथम तिब्बती बौद्ध मठ निर्मित कराया गया। इस मठ में अध्यक्ष के रूप में जीवन पर्यन्त रहते हुए शान्तरक्षित ने तिब्बत में बौद्ध धर्म का प्रचार प्रसार किया।

(2) बलभी:—

गुजरात के कठियावाड़ क्षेत्र में आधुनिक (बल) नामक स्थान पर स्थित बलभी पश्चिम भारत में शिक्षा तथा संस्कृति का प्रसिद्ध केन्द्र था। जहाँ नालन्दा की काटि का एक विश्वविद्यालय था। इस नगर की स्थापना मैत्रक वंशी शासक भट्टर्यक ने की थी। यहाँ मैत्रक राजवंश की राजधानी थी। सातवी शती में बलभी एक प्रसिद्ध व्यापारिक एवं शैक्षणिक केन्द्र बन गया। ह्वेनसांग इस नगहर की समृद्धि का वर्णन करता है। उसके

अनुसार यहाँ एक सौ बौद्ध बिहार थे। जिनमें लगभग 6000 हीयानी भिक्षु निवास करते थे। नगर की परिधि 6 मील के घेरे में थी।

बलभी हीनयान बौद्ध धर्म की शिक्षा का प्रमुख केन्द्र था। यहाँ भारत के विभिन्न भागों से विद्यार्थी शिक्षा ग्रहण करने के निमित्त आते थे। इत्सिंग हमें बताता है कि सभी देशों के विद्वाना यहाँ एकत्रित होते थे तथा विविध देशों के सिद्धान्तों पर शास्त्रार्थ करके उनकी सत्यता निर्धारित किया करते थे। यहाँ के अध्यापक दो या तीन वर्ष तक विद्यार्थियों को पढ़ाते थे तथा उसी अवधि में विद्यार्थी प्रकाण्ड विद्वान बन जाते थे। कथासरित्सागर से पता चलता है कि अन्तर्वेदी (गंगा का प्रदेश) के ब्राह्मण तक अपने बच्चों को उच्च शिक्षा के लिए बलभी भेजते थे।

बलभी विश्वविद्यालयों अपनी सहिष्णुता तथा बौद्धिक स्वतन्त्रता के लिए विख्यात था। बौद्ध धर्म के साथ-साथ यहाँ न्याया विधि वार्ता, साहित्य आदि विषयों की उच्च शिक्षा की भी उत्तमव्यवस्था थी। 7वीं सदी के मध्य विश्वविद्यालय के प्रमुख आचार्य स्थिरमति तथा गुणमति थे। 7वीं सदी में तो बलभी का विश्वविद्यालय नालन्दा की प्रतिस्पर्धा करने लगा था। मैत्रक शासकों ने इसे उदारतापूर्वक दान दिये तथा उनके काल (480-775 ई0) में इसकी खूब उन्नति हुई। राजकीय संरक्षण के साथ-साथ विश्वविद्यालय को नगर के प्रसिद्ध वयापारियों तथा व्यवसायियों से भी प्रभूत दान मिला।

(3) विक्रमशिला:— बिहार प्रान्त के भगलपुर जिले में स्थित विक्रमशिला नालन्दा के ही समान एक अन्तरराष्ट्रीय ख्याति का शिक्षा केन्द्र रहा है। विक्रमशिला के महाविहार की स्थापना पाल नरेश धर्मपाल (775-800 ई0) में करवाई थी। उसने यहाँ मन्दिर तथा मठ बनावाये और उन्हें उदारता पूर्वक अनुदान दिया। यहाँ 160 बिहार तथा व्याख्यान के लिए अनेक कक्ष बने हुए थे। धर्मपाल के उत्तराधिकारी तेरहवीं शती तक उसे राजकीय संरक्षण प्रदान करते रहे।

विक्रमशिला विश्वविद्यालय में 6 महा विद्यालय थे। प्रत्येक में एक केन्द्रीय कक्ष तथा 108 अध्यापक थे। विश्वविद्यालय में अध्ययन के विशेष विषय पर व्याकरण, तर्कशास्त्र, मीमांस, तंत्रविधिवाद आदि थे। आचार्यों में दीपकर श्रीजन का नाम सर्वाधिक उल्लेखनीय है। जो उस विश्वविद्यालय के कुलपति थे। वे हीनयान, महायान, वैशेषिक तथा तर्कशास्त्र के निंदान और तिब्बती बौद्ध धर्म के महान लेखक थे। 11वीं शती के तिब्बती नरेश चनचुब के निमंत्रण पर वे तिब्बत गये। जहाँ उन्होंने बौद्ध धर्म के सुधार में महत्वपूर्ण योगदान दिया। अन्य विद्वानों में ज्ञानपाद, बौरोचन, रक्षित, जैतारी, रत्नाकर, शान्ति, ज्ञानश्री, मित्र, रत्नवज्र, तथागत, रक्षित आदि के नाम प्रसिद्ध हैं। यहाँ एक सम्पन्न एवं विशानकाय पुस्तकालय भी था। विश्वविद्यालय का प्रबन्ध चलाने के लिए मुख्य सहायक की देखरेख में एक परिषद थी। जिसके सदस्य विभिन्न प्रशासनिक कार्यों जैसे— नवागन्तुको को दिक्षित करने नौकरी की व्यवस्था तथा उनकी देखभाल, खाद्य सामग्री तथा उसके ईंधन की आपूर्ति मठ के कार्यों का आबंटन आदि को सम्पन्न किया करते थे। यहाँ के सनातकों को अध्ययनोपरान्त पाल शासकों द्वारा उपाधियां प्रदान की जाती थी। सम्भव है वहाँ आज कल की भांति दीक्षान्त समारोहों का

आयोजन भी किया जाता रहा है। जिसमें समकालीन पाल शासका कुलाभिपति (Chancellor) की हैसियत से उपस्थित होते हैं।

नालन्दा के ही समान इस विश्वविद्यालय का प्रमुख काग्र तिब्बत में भारतीय सभ्यता का प्रचार प्रसार करना था। जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है। विश्वविद्यालय के प्रमुख आचार्य दीपकर सहित कई विद्वान तिब्बतगोय जहाँ उन्होंने बौद्ध धर्म का प्रचार प्रसार किया। इस प्रकार यहाँ के आचार्यों ने भारतीय ज्ञान विज्ञान को अन्तर्राष्ट्रीय जगत में प्रतिष्ठित करने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की।

1230 ई० में मुस्लिम आक्रान्ता बख्तियार खिलजी ने विक्रमशिला विश्वविद्यालय को दुर्ग के भ्रम में नष्ट कर दिया। शिक्षुओं की सामूहिक हत्या कर दी गयी तथा ग्रन्थों को जला दिया गया।

---